

मृत्प ॥१-१) तेरह ज्ञान

पत्त-गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

## निवेदन

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यकके प्रपाठक ७-८ और ९ का नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है । इनमें सप्तम प्रपाठक, जिसे तैत्तिरीयोपनिषदुक्ती शीक्षावली कहते हैं, सांख्यी उपनिषद् कही जाती है और अष्टम तथा नवम प्रपाठक जो इस उपनिषदुक्ती ब्रह्मानन्दवली और मृगुवली हैं, बाङ्गी उपनिषद् कहलाती हैं । इनके आगे जो दशम प्रपाठक है उसे माण्यणोपनिषद् कहते हैं, यह यादिकी उपनिषद् है । इनमें महत्त्वकी दृष्टिसे बाङ्गी उपनिषद् प्रधान है; उसमें विस्तृत ब्रह्मविद्याका ही निरूपण किया गया है । किन्तु उसकी उगलम्बिके लिये विचकी एकप्रता एवं गुरुहाराकी आवश्यकता है । इसके लिये शीक्षावलीमें कई प्रकारकी उपासना तथा शिष्य एवं आचार्यसम्बन्धी शिष्याचारका निरूपण किया गया है । अतः औपनिषद् सिद्धान्तको हृदयंगम करनेके लिये पहले शीक्षावलीयुक्त उपासनादिकर ही आवश्यक लेना चाहिये । इसके आगे ब्रह्मानन्दवली तथा मृगुवलीमें ब्रह्म ब्रह्मविद्याका निरूपण है उसके सम्प्रदायप्रवर्तक बङ्ग हैं; इसलिये वे दोनों बन्धियों बाङ्गी विद्या अपथा बाङ्गी उपनिषद् कहलाती हैं ।

इस उपनिषद्पर भगवन् शङ्कराचार्यने जो भाष्य लिखा है वह बहुत ही विचारपूर्ण और सुलियुक्त है । उसके आरम्भमें प्रथम

उपदेशान् करते हुए भगवान्ने यह बतलाया है कि मोक्षरूप परम नि श्रेयसकी प्राप्तिका एकमात्र हेतु ज्ञान ही है । इसके लिये कोई अन्य साधन नहीं है । मीमांसकोंके मतमें स्वर्ग शब्दवाच्य निरतिशय प्रीति ( प्रेय ) ही मोक्ष है और उसकी प्राप्तिका साधन कर्म है । इस मतका आचार्यने अनेकों युक्तियोंसे स्पष्टण किया है और स्वर्ग तथा कर्म दोनोंहीकी अनित्यता सिद्ध की है ।

इस प्रकार आरम्भ करके फिर इस बर्णनमें बतलायी हुई भिन्न-भिन्न उपासनादिकी सञ्चित व्याख्या करते हुए इसके उपसंहारमें भी भगवान् माध्यकारने कुछ विशद विचार किया है । एकदश अनुवाकमें शिष्यकी वेदका स्वाप्याय करानेके अनन्तर व्याख्य सत्यमात्रण एवं धर्मावर्णादिका उपदेश करता है तथा समावर्तन सत्कारके लिये आदेश देते हुए उसे गृहस्वोचित कर्मोंकी भी शिक्षा देता है । वहाँ यह बतलाया गया है कि देवकर्म, पितृकर्म तथा अतिपिपूजनमें कमी प्रमाद न होना चाहिये, इल और स्वाप्यायमें भी कमी मूळ न होनी चाहिये, सदाचारकी रक्षाके लिये गुरुजनोके प्रति अज्ञा रखते हुए उन्हींके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये—किन्तु यह अनुकरण केवल उनके सुदृष्टोंका हो, दुष्टोंका नहीं । इस प्रकार समस्त बर्णनमें उपासना एवं गृहस्वजनोचित सदाचारका ही निरूपण होनेके कारण किसीको यह आशंका न हो चाय कि ये ही मोक्षके प्रधान साधन हैं इसलिये आचार्य फिर मोक्षके साध्यात् साधनका निर्णय करनेके लिये पाँच विकल्प करते हैं—( १ ) क्या परम श्रेयकी प्राप्ति केवल कर्मसे हो सकती है ? ( २ ) अथवा विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे ( ३ ) किन्ना कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे ( ४ ) या कर्मकी अपेक्षावाले ज्ञानसे ( ५ ) अथवा केवल ज्ञानसे ? इनमेंसे कल्प्य सब पक्षोंको सर्वोत्तम सिद्ध करते हुए आचार्यने यही निश्चय किया है कि केवल ज्ञान ही मोक्षका साध्यात् साधन है ।

इस प्रकार शीघ्रान्तर्गमें सञ्चितादिनियमक उपासनाओंका निरूपण कर फिर अज्ञानन्दबर्णनमें असविद्याका वर्णन किया गया है । इसका पहला

वाक्य है—'ब्रह्मविद्याप्नोति परम्' यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह सूत्रमूल वाक्य ही सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका बीज है । ब्रह्म और ब्रह्मविद्येके स्वरूपका विचार ही तो ब्रह्मविद्या है और ब्रह्मवेत्ताकी परप्राप्ति ही उसका फल है, अतः निःसन्देह यह वाक्य फलसहित ब्रह्मविद्याका निरूपण करनेवाला है । आगेका समस्त ग्रन्थ इस सूत्रमूल मन्त्रकी ही व्याख्या है । उसमें सबसे पहले 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्यद्वारा भुक्ति ब्रह्मका अक्षय्य करती है । इससे ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर उसकी उपलब्धिसे लिये पञ्चकोशका विवेक करनेके अभिप्रायसे उसमें पक्षीके रूपकद्वारा पौर्णो कोशोंका वर्णन किया है और उन सबके आधार रूपसे सर्वोत्तरतम परब्रह्मका ब्रह्म तुच्छं प्रतिष्ठ' इस वाक्यद्वारा निर्णय किया है । इसके पश्चात् ब्रह्मकी असत्ता माननेवाले पुरुषकी निन्दा करते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा की है और उसे 'सत्' बतलाया है । फिर ब्रह्मका सार्वभौम्य प्रतिपादन करनेके लिये 'सोऽक्षयमवत । बहु स्यां प्रशानेन इत्यादि वाक्यद्वारा उसीको अनात्मक अभिन्नमित्येवोपादान कारण बतलाया है ।

इस प्रकार सत्संज्ञक ब्रह्मसे अनात्मकी उत्पत्ति दिखलाकर फिर सत्तम अनुवाकमें असत्से ही सत्की उत्पत्ति बतलायी है । किन्तु यहाँ 'असत्' का अर्थ अभाव न समझकर अव्याकृत ब्रह्म समझना चाहिये और 'असत्'का व्याकृत अनात्म । क्योंकि अव्यक्तमात्रसे किसी माषपदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्तिसे पूर्व सारे पदार्थ अव्यक्त थे ही । इसलिये 'असत्' शब्द अव्याकृत ब्रह्मका ही वाचक है । यह ब्रह्म रसस्वरूप है; उस रसकी प्राप्ति होनेपर यह जीव रसमय—आनन्दमय हो जाता है । उस रसके भिन्नसे ही सारा संसार सबीज देखा जाता है । जिस समय स्रष्टाका परिपाक होनेपर पुरुष इस अदृश्य अशरीर अनिर्वाच्य और अनामय परमात्मामें स्थिति खान करता है उस समय वह सर्वथा निर्भय हो जाता है; और जो उसमें घोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है ।

अतः ब्रह्ममें स्थित होना ही जीवकी अमयस्थिति है, क्योंकि वहाँ भेदका सर्वथा अभाव है और मय भेदमें ही होता है 'द्वितीयादौ मयं भवति' ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्करी अमयप्राप्तिकर निरूपण कर ब्रह्मके सर्वान्तर्यामिण और सर्वशासकत्वका वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताके आनन्दकी सर्वोत्कृष्टता दिखलायी है । वहाँ मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, आबानज देव, कर्मदेव, वन, इन्द्र, पृथ्वीपति, प्रजापति और ब्रह्मा—इन सबके आनन्दोंको उत्तरोत्तर घतगुण बतलाते हुए यह दिखलाया है कि निष्काम ब्रह्मवेत्ताको वे सभी आनन्द प्राप्त हैं । क्यों न हो ? उसके अपिहानमूत परब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण क्या वह इन सभीका आत्मा नहीं है । अतः सर्वरूपसे वही तो सारे आनन्दोंका भोक्ता है । भोक्ता ही क्यों सर्व-आनन्दस्वरूप भी तो वही है, सारे आनन्द सहीके स्वरूपमूत आनन्द-महोदधिके सुरातिशुद्ध रूप ही तो हैं ।

इसके पश्चात् इन्द्रपुण्डरीकस्य पुरुषका आदिपुण्ड्रस्य पुरुषके साथ अभेद करते हुए यह बतलाया है कि जो इन दोनोंका अभेद आत्मता है वह इस लोक अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट निम्नसमूहसे निवृत्त होकर इस समष्टि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्मताको प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार सारा प्रपञ्च उसका अपना शरीर हो जाता है—उसके किये अपनेसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता । उस निर्मय और अनिर्वाच्य स्वरूपत्वकी जिसे प्राप्ति हो जाती है, उसे न तो किसीका मय रहता है और न किसी वृत्त या अकृतका अनुताप ही । जब अपनेसे भिन्न कुछ है ही नहीं तो मय किसका और क्रिया कैसी ? क्रिया तो देह, कण्ड या वस्तुका परिच्छेद होनेपर ही होती है, उस एक अक्षय्य अमर्यादित, अद्वितीय वस्तुमें किसी प्रकारकी क्रियाका प्रवेश कैसे हो सकता है ।

इस प्रकार ब्रह्मनन्दकन्ठीमें ब्रह्मनिष्ठापर निरूपण कर योग्यकन्धीमें उसकी प्राप्तिकर मुख्य साधन पञ्चकोश-विभेद दिखलानेके किये बह्म और योग्य आक्षय्यन दिया गया है । आत्मनस्य विज्ञातुं योग्य अपने



इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद्का प्रधान उक्त्य प्रश्न ज्ञान ही है। इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही मर्मस्पर्शिणी और मृदुलामय है। भगवान् एहदराचार्यने इसके ऊपर जो भाष्य लिखा है वह भी बहुत विचारपूर्ण है। आशा है, विद्वान् उससे यथेष्ट लाभ उठानेका प्रयत्न करेंगे।

इस उपनिषद्के प्रकाशनके साथ प्रथम आठ उपनिषदोंके प्रकाशनका कार्य समाप्त हो जाता है। हमें इनके अनुवादमें श्रीविष्णु-बापटशास्त्रीकृत मराठी-अनुवाद, श्रीदुर्गाचरण मन्मस्दासकृत फण्ड अनुवाद, ब्रह्मनिष्ठ पं० श्रीपीतम्बरजीकृत हिन्दी-अनुवाद और महा-महोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा एच ए० श्रीसीतारामजी शास्त्रीकृत अंग्रेजी अनुवादसे यथेष्ट सहायता मिली है। अतः हम इन सभी महानुमाओंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। फिर भी हमारी अल्पज्ञताके कारण इनमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह गयीं होंगी। उनके लिये हम कृपापूर्वक पाठकोंसे सविनय क्षमा-भार्यना करते हैं और आशा करते हैं कि वे उनकी सूचना देकर हमें अनुगृहीत करें, जिससे कि हम अगले संस्करणमें उनके संशोधनका प्रयत्न कर सकें।

अनुवादक



# विषय-सूची



| विवरण   | पृष्ठ |
|---|-------|
| १ छान्दोग्य   | ११    |
| <b>श्रीशावली</b>  |       |
| प्रथम अनुवाक  |       |
| २ सम्बन्ध भाष्य   | १४    |
| ३ श्रीशावलीका छान्दोग्य   | २१    |
| द्वितीय अनुवाक  |       |
| ४ श्रीशावली व्याख्या  | २५    |
| तृतीय अनुवाक  |       |
| ५ पाँच प्रश्नकी परिशोधना  | २७    |
| चतुर्थ अनुवाक   |       |
| ६ श्री और बुद्धिकी कामनावाङ्मोहिनि के अर और होय-तन्मन्धी मन्त्र | ३३    |
| पञ्चम अनुवाक  |       |
| ७ व्याहृतिस्म ब्रह्मकी उपासना                                   | ४१    |
| षष्ठ अनुवाक   |       |
| ८ ब्रह्मके वाचात् उपनिषत्साल हृदयाभ्यास वर्णन                   | ४७    |
| सप्तम अनुवाक  |       |
| ९ पाठ्यक्रमके ब्रह्मकी उपासना                                   | ५४    |
| अष्टम अनुवाक  |       |
| १० मोक्षोपासनाका विधान  | ५७    |
| नवम अनुवाक  |       |
| ११ श्रुतिदि गुण कर्मोकी अवलोकनम्बुका विधान                      | ६१    |
| दशम अनुवाक  |       |
| १२ विद्याका वेदानुपपन्न   | ६५    |
| एकादश अनुवाक  |       |
| १३ वेदानुपपन्नके अन्तर विद्याकी आचार्यका उपदेश                  | ६८    |
| १४ मोक्ष-साधनकी मीमांसा   | ७८    |
| द्वादश अनुवाक   |       |





श्रीमान् पद्मनाभजी त्रिमुपनहासजी  
बम्बई बाली बी आर म बट ६

## ब्रह्मानन्दवल्ली

|  |     |
|--|-----|
| प्रथम अनुवाक   |     |
| १५ ब्रह्मानन्दवल्लीका शान्तिपाठ  | १४  |
| १६ ब्रह्मजन्मके फल, धुष्टिक्रम और अग्निस्य क्रोशक्य पक्षीका वर्णन  | १६  |
| द्वितीय अनुवाक   |     |
| १७ अग्निकी महिमा तथा प्राणमय क्रोशका वर्णन   | १२४ |
| तृतीय अनुवाक   |     |
| १८ प्राणकी महिमा और मनोमय क्रोशका वर्णन  | १३  |
| चतुर्थ अनुवाक  |     |
| १९ मनोमय क्रोशकी महिमा तथा विज्ञानमय क्रोशका वर्णन   | १३८ |
| पञ्चम अनुवाक   |     |
| २० विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय क्रोशका वर्णन   | १४१ |
| षष्ठ अनुवाक  |     |
| २१ ब्रह्मको उत् और अस्तु जाननेवालोंका भेद, ब्रह्म और अब्रह्मकी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें छात्र तथा तत्पूज्य प्रपञ्चकृतके ब्रह्मके लित होनेका निरूपण | १५  |
| सप्तम अनुवाक   |     |
| २२ ब्रह्मकी सुकृत्या एवं आनन्दरूपताका तथा ब्रह्मवेत्ताकी अमर प्राप्तिका वर्णन  | १७१ |
| अष्टम अनुवाक   |     |
| २३ ब्रह्मानन्दके निरतिघ्नस्वकी मीमांसा   | १८२ |
| २४ ब्रह्मस्मीक्य इतिहास उपसंहार  | १९१ |
| नवम अनुवाक   |     |
| २५ ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाके विद्वान्की अमरप्राप्ति   | २८  |

## भृगुवल्ली

|  |     |
|--|-----|
| प्रथम अनुवाक   |     |
| २६ भृगुका अपने पिता बृहस्पति पाठ जाकर ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न करना तथा बृहस्पति ब्रह्मोपदेश                       | २११ |
| द्वितीय अनुवाक   |     |
| २७ अथ ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसके ब्रह्मके कथन कथकर भृगुका पुनः बृहस्पति पाठ मान्य और उसके उपदेशके पुनः उप करना | २१८ |

- द्वितीय अनुवाक  
 २८ प्रथम ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके कथन  
 प्रयत्न मृगुक्ष पुनः ब्रह्मके पास आना और उसके उपदेशसे  
 पुनः तप करना २२
- तृतीय अनुवाक  
 २९ मन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके कथन प्रयत्न  
 मृगुक्ष पुनः ब्रह्मके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः  
 तप करना २२१
- चतुर्थ अनुवाक  
 ३० विद्यन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके कथन  
 प्रयत्न मृगुक्ष पुनः ब्रह्मके पास आना और उसके उपदेशसे  
 पुनः तप करना २२२
- पंचम अनुवाक  
 ३१ अन्तर ही ब्रह्म है—ऐसा मृगुक्ष निश्चय करना तथा इत  
 भार्गवी वादपी विद्याका महत्त्व और फल २२३
- षष्ठम अनुवाक  
 ३२ अन्नकी निश्चय न करनास्तत्र तया धीर और प्राणस्तत्र  
 ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन २२४
- सप्तम अनुवाक  
 ३३ अन्नका त्याग न करनास्तत्र तया ब्रह्म और ज्योतिस्तत्र  
 ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन २२८
- अष्टम अनुवाक  
 ३४ अन्नतद्व्यपस्तत्र तया पृथिवी और आकाशस्तत्र अन्नब्रह्मके  
 उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन २२९
- नवम अनुवाक  
 ३५ गृहागत अतिथिको आशय और अन्न देनेका विधान एवं उसके  
 प्राप्त होनेवाला फल तथा प्रक्षयान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका  
 वर्णन २३
- दशम अनुवाक  
 ३६ आदित्य और शहीपाथिक वैदिककी एकवाच्यताके उपासक-  
 को मिलनेवाला फल २४१
- ३७ ब्रह्मवेत्ताहाय गत्या जानेवाला नाम २४५
- ३८ धान्तिपाठ २४९





परम और मृग

ॐ श्री गणेशाय नमः ॥ श्री गणेशाय नमः ॥

संस्कृत

श्री श्रीगणेशाय नमः ॥ श्री गणेशाय नमः ॥

।

ॐ

उत्सवार्थे नमः

## तैत्तिरीयोपनिषद्

मंत्रार्थ, साङ्ख्यशास्त्र और भाष्यसहित

सर्वोद्योगाभ्यासनिर्मुक्तं सर्वोशाभास्कर परम् ।  
विद्याव्याख्यासहितं तं सद्गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥

—

साङ्ख्यशास्त्र

ॐ श नो मित्र श वरुण । श नो भवत्वर्थमा ।  
श न इन्द्रो बृहस्पति । श नो विष्णुरुक्म ।  
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वद्विष्यामि । ऋतं वद्विष्यामि ।  
सत्यं वद्विष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्त्ररमवतु । अवतु  
माम् । अवतु वक्त्ररम् ॥ ॐ शान्तिः शान्ति शान्ति ॥

—

# शीघ्रावली

## प्रथम अनुवाक

सम्बन्ध माध्व

असाज्जातं असास्पर्षं अस्मिन्नेव प्रलीयते ।

वेनेर्दं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ १ ॥

जिससे सारा अज्ञान अत्यन्त हुआ है, जिसमें ही यह अज्ञान होता है और जिसके द्वारा यह धारण किया जाता है उस ज्ञानस्वरूपको मेरा नमस्कार है ।

वैरिणे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाप्यतः ।

व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तास्मिन् प्रवृत्तोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

पूर्वकाव्यमें जिन गुरुजनोंने पद, वाक्य और प्रमाणोंके विवेचनपूर्वक हम सम्पूर्ण वेदान्तों ( उपनिषदों ) की व्याख्या की है उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ।

तैत्तिरीयप्रस्तास्य मयाचार्यप्रसादतः ।

विस्पष्टार्थरूपीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते ॥ ३ ॥

जो स्पष्ट अर्थ जाननेके इच्छुक हैं उन पुरुषोंके लिये मैं श्रीवाचार्यकी  
—> तैत्तिरीयाशास्त्रके सारभूत इस उपनिषद्की व्याख्या करता हूँ ।

नित्यान्यधिगतानि कर्माण्यु

पाचदुस्त्रिषुपाध-

नि, काम्यानि च

फलाधिनां पूर्वमिन्द्रन्य । इदानीं

कर्मोपादानहेतुपरिहाराय

विधा प्रस्तुयते ।

कर्महेतुः कर्मः सात् ।

अल्पविशेषात्- प्रवर्धकत्वात् । आ-

चनो मयि सुकामानां हि कामा-

भावे स्वात्मन्यवस्थानात् प्रवृत्त्य-

नुपपत्तिः । आत्मकामित्वे चास-

कमत्वाः आत्मा हि प्रस-

तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति ।

अतोऽविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्य-

वस्थानं परप्राप्तिः । "अमयं

प्रसिद्धां विन्दते" ( वै० उ० २ ।

७ । १ ) "एतमानन्दमयमात्मा-

न्युपसंक्रामति" ( वै० उ० २ ।

८ । १२ ) इत्यादिद्युतेः ।

सम्बन्धित पापोंका क्षय ही निरन्तर

मुख्य प्रयोजन है ऐसे नित्यकर्मोंका

तथा सक्रम पुरुषोंके लिये विहित

काम्यकर्मोंका इससे पूर्वकी प्रथमे

[ अर्थात् कर्मकाण्डमे ] परिहारा हो

चुका है । जब कर्माहुअनक

कारणकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मविद्याका

आरम्भ किया जाता है ।

कामना ही कर्मकी कारण हो

सकती है, क्योंकि वही उसकी

प्रवर्धक है । जो लोग पूर्णकर्म हैं

उनकी कामनाओंका अभाव होनेपर

सकृदपि स्तिष्ठति हो जानेसे कर्ममें

प्रवृत्ति होती नसकभव है । अतः

दर्शनकी कामना पूर्ण होनेपर

ही पूर्णकामता [ की सिद्धि ] होती

है, क्योंकि कारण ही प्रस है और

ब्रह्मवेत्ताके ही परमात्माकी प्राप्ति

होती है ऐसा अपने [ द्युति ]

वक्तव्यसे ही । अतः ब्रह्मविद्याकी निवृत्ति

होनेपर अपने आध्यामे स्तिष्ठत हो

जाना ही परमात्माकी प्राप्ति है;

जैसा कि "अमयं पदं प्राप्तं कर रेखा

है" [ एतत् समय ] इस आत्मन्द

मय आत्माके प्राप्त हो जाता है" इत्यादि द्युतिबोधसे प्रमाणित होता है ।



काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भा-  
यीनासकन्त दारम्भस्व घोष  
समीक्षा भोगेन ध्याभिस्त्या  
जुष्टानेन प्रत्यवायाभावादयत्त  
एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः ।  
अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः  
स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतु  
स्वात्कर्मस्य एव मोक्ष इति चेत् ।

न; कर्मनिष्कत्वात् । अने  
कानि द्वारम्भफलान्यनारम्भ  
फलानि धानेकत्र मान्तरकृतानि  
विरुद्धफलानि कर्माणि सम्भवन्ति ।  
अतस्तेष्वनारम्भफलानामेकसि  
अन्मन्युपभोगध्यायासंभवाच्छेय-  
कर्मनिमित्तश्चरीरारम्भोपपत्तिः  
कर्मक्षेपसद्भावसिद्धिम् “तद्य इह  
रमणीयचरणाः” ( छा० उ०  
५।१०।७ ) “ततः क्षेपेण”  
( आ० ५० २।२।२।३, गो०

पूर्व —काम्य और निषिद्ध कर्मों  
का आरम्भ न करनेसे, प्रारम्भ कर्मों-  
का मोगद्वारा क्षेप हो जानेसे तथा  
मित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे प्रत्यवायोंका  
अभाव हो जानेसे अनापास ही  
अपने आत्मामें स्थित होनारूप मोक्ष  
प्राप्त हो जायगा; अथवा स्वर्ग-  
शब्दवाच्य आत्यन्तिक प्रीति कर्म-  
जनित होनेके कारण कर्मसे ही  
मोक्ष हो सकता है—परि ऐसा माना  
जाय तो ?

सिद्धान्ती—महाँ, क्योंकि कर्म  
तो बहुत-से हैं । अनेकों अन्तर्तरोमें  
किये हुए ऐसे कर्मोंके निष्क फलवासे  
कर्म हो सकते हैं जिनमेंसे कुछ तो  
फलसेमुक्त हो गये हैं और कुछ अभी  
फलसेमुक्त नहीं हुए हैं । अतः उनमें  
जो कर्म अभी फलसेमुक्त नहीं हुए  
हैं उनका एक अन्तर्तरो ही क्षेप होना  
असम्भव होनेके कारण उन अवशिष्ट  
कर्मोंके कारण दूसरे शरीरका  
आरम्भ होना असम्भव ही है ।  
“यस्य अनेकमें जो कुछ कर्म करनेवासे  
हैं [ उन्हें छुमयोनि प्राप्त होती है ]”  
“[ उपभोग किये कर्मोंसे ] बचे हुए  
कर्मोंद्वारा [ जीवको आगेका शरीर

सू० ११) इत्यादिभ्रुतिस्मृति-  
श्रुतेभ्य ।

इयानिएकलानामनारब्धानां

धयत्यारिनि नित्यानीति चेत् ?

न; अक्षरथे प्रत्यवायभव

गात् । प्रत्यवायशब्दो अनिए

विषय । नित्याकरणनिमित्तस्य

प्रत्यवायस्य दुःस्वरूपस्यागामिनः

परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युप

गमाप्रानारब्धफलकर्मधयार्थानि ।

यदि नामानारब्धकर्मधया

थानि नित्यानि कर्माणि तदा-

प्यशुद्धमव धपमयुर्न शुद्धम् ।

निराधाभावात् । न हीदृक्फलस्य

कर्षणं शुद्धरूपत्वाकित्यविरोध

उपपद्यते । शुद्धाशुद्धादि विना-

शो युक्त ।

प्राप्त हाता है ] ; इत्यादि संकल्पों  
सृष्टि-सृष्टियोंसे अवशिष्ट कर्मके  
सञ्जावकी सिद्धि होती ही है ।

ए०—इष्ट और अनिष्ट दोनों  
प्रकारके फल देनेवाले सञ्चित कर्मों-  
का धय करनेके लिये ही नित्यकर्म  
हैं—ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उन्हें  
न करनेपर प्रत्यक्षय होता है—ऐसा  
सुना गया है । 'प्रत्यक्षय' शब्द  
अनिष्टका ही सूचक है । नित्य-  
कर्मोंके न करनेके कारण जो  
आप्तमी दुःस्वरूप प्रत्यक्षय हाता है  
उसका नाश करनेके लिये ही  
नित्यकर्म हैं—ऐसा माना जानेक  
कारण वे सञ्चित कर्मोंके धयके लिये  
नहीं हो सकते ।

और यदि नित्यकर्म, अनिष्टका  
फल अभी आरम्भ नहीं हुआ है तब  
कर्मोंके धयके लिये हों भी तो भी  
वे अशुद्ध कर्मका ही धय करेंगे,  
शुद्धका नहीं; क्योंकि उनसे ही  
उनका निरोध ही नहीं है । अनिष्टका  
फल शुद्ध है तब कर्मोंका ता शुद्ध  
रूप होनेके कारण नित्यकर्मोंसे  
निरोध होता सम्भव ही नहीं है ।  
निरोध तो शुद्ध और अशुद्ध कर्मोंका  
ही होता उचित है ।

न च कर्महेतुता कामाना  
 ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवात्क्षेप-  
 कर्मस्योपपत्तिः । अनात्मविदो  
 हि कामोऽनात्मफलविषयत्वात् ।  
 स्वात्मनि च कामानुपपत्तिर्नित्य  
 प्राप्तत्वात् । स्वयं चात्मा परं  
 ज्ञेयस्युक्तम् ।

नित्यानां चाकरणमभावस्तत  
 प्रत्ययानुपपत्तिरिति । अतः  
 पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणा-  
 याः प्रत्यवायक्रियायां निस्वाकरणं  
 लक्षणमिति “अकुर्वन्निहितं कर्म”  
 ( मनु० ११ । ४४ ) इति सतु  
 र्नानुपपत्तिः । अयथाभावाद्भा-  
 वोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याख्योप-  
 इति । अतोऽयत्नतः स्वारमन्य  
 वस्थानमित्यनुपपन्नम् ।

इसके सिवा कर्मकी हेतुमूल  
 कर्मनाशकी निवृत्ति भी ज्ञानके  
 अभावमें असम्भव होनेके कारण  
 सम ( नित्यकर्मों ) के द्वारा सम्पूर्ण  
 कर्मोंका क्षय होना सम्भव नहीं है,  
 क्योंकि अनात्मफलविषयिणी होनेके  
 कारण कामना अनात्मवेद्यको ही  
 हुआ करती है । वास्तवमें तो कामना-  
 का होना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि  
 यह नित्यप्राप्त है । और यह तो कहा  
 ही जा चुका है कि स्वयं आत्मा ही  
 परब्रह्म है ।

तथा नित्यकर्मोंका न करना तो  
 अभावरूप है, उससे प्रत्ययाप होना  
 असम्भव है । अतः नित्यकर्मोंका न  
 करना यह पूर्वोपचित पापोंसे प्राप्त  
 होनेवाली प्रत्यवायक्रियाका ही  
 लक्षण है । इसलिये “अकुर्वन्  
 निहितं कर्म” इस वाक्यके  
 ‘अकुर्वन्’ पदमें शतृ प्रत्ययका  
 होना अनुचित नहीं है । अन्यथा  
 अभावसे मात्रकी उत्पत्ति सिद्ध होने  
 के कारण सभी प्रमाणोंसे विरोध ही  
 आयेगा । अतः ऐसा मानना सर्वथा  
 अनुचित है कि [ कर्मानुष्ठानसे ]  
 अनायास ही अनात्मरूपमें स्थिति  
 हो जाती है ।

यत्प्रोक्त निरतिशयप्रीतेः स्वर्ग  
शब्दवान्यायाः कमनिमित्तत्वा-  
त्कर्मारम्भ एव मोक्ष इति, तन्न;  
नित्यत्वामोक्षस्य । न हि नित्य  
किञ्चिदारम्भते लोके । यदारम्भ  
तदनित्यमिति । अतो न कर्मा-  
रम्भो मोक्षः ।

विद्यासहितानां कर्मणां नि  
स्वारम्भसामर्थ्यमिति चेत् ?

न; विरोधात् । नित्यं वा-  
रम्भत इति विरुद्धम् ।

यद्विनष्टं तदस्य नोत्पद्यत इति ।  
प्रर्षसाभाववन्निष्पद्यतेऽपि मोक्ष  
आरम्भ एवेति चेत् ?

न; मोक्षस्य भावरूपत्वात्  
प्रर्षसाभावोऽप्यारम्भत इति  
न संभवति; अभावस्य  
विद्येयाभावादिकल्पमात्रमेतत् ।

और यह जो कहा कि स्वर्ग  
शब्दसे कही जानेवाली निरतिशय  
प्रीति कमनिमित्तक होनेके कारण  
मोक्ष कर्मसे ही आरम्भ होनेवाला है,  
तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि  
मोक्ष नित्य है और किसी भी नित्य  
वस्तुका आरम्भ नहीं किया जात,  
अनेकमें जिस वस्तुका भी आरम्भ  
होता है वह अनित्य हुआ करती  
है, इसलिये मोक्ष कर्मारम्भ नहीं है ।

पूर्व०—ज्ञानसहित कर्मोंमें तो  
नित्य मोक्षके आरम्भ करनेकी भी  
सामर्थ्य है ही ।

विद्यान्तौ—नहीं, क्योंकि ऐसा  
माननेसे विरोध आता है, मोक्ष नित्य  
है और उसका आरम्भ किया जाता  
है—ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है ।

पूर्व०—जो वस्तु नष्ट हो जाती  
है वही फिर उत्पन्न नहीं हुआ  
करती, अतः प्रर्षसाभावके समान  
नित्य होनेपर भी मोक्षका आरम्भ  
किया ही जाता है—ऐसा मार्ग तो ?

विद्यन्तौ—नहीं, क्योंकि मोक्ष  
तो भावरूप है । प्रर्षसाभाव भी  
आरम्भ किया जाता है यह  
संभव नहीं; क्योंकि अभावमें  
कोई विक्रियता न होनेके कारण यह  
तो केवल विषय ही है । भावरूप

यात्प्रतियोगी समाप )  
 यथा क्षभिषोऽपि मावो षट्  
 षटादिभिर्विशेष्यते मिश्र इष  
 षट्मावः षट्माव इति; एष  
 निर्विशेषोऽप्यमाव क्रिया-  
 शुष्ययोगाद्ब्रह्मादिवद्विकल्प्यते ।  
 न ब्रह्माव उत्पलादिवद्विशेष्य  
 सहभावी । विशेष्यवत्त्वे भाव  
 एव स्यात् ।

प्रतियोगी ही 'ब्रह्माव' कहल्यता  
 है । जिस प्रकार माव कस्तुत  
 कमिस होनेपर भी षट्-षट् आदि  
 विशेषणोंसे मिश्रके समान ब्रह्माव,  
 षट्माव आदि रूपसे विशेषित किया  
 जाता है इसी प्रकार ब्रह्माव  
 निर्विशेष होनेपर भी द्विधा और  
 गुणके योगसे ब्रह्मादिक समान  
 विकल्पित होता है । कर्मक भावि  
 पदायोंके समान ब्रह्माव विशेष्यके  
 सहित रहनेवाला नहीं है । विशेषण  
 युक्त होनेपर तो वह भाव ही हो  
 जायगा ।

विद्याकर्मकर्तृनिस्त्यत्वाद्ब्रिधा-  
 कर्ममुन्तानबन्धिवमोक्षनिस्त्यत्व  
 मिति चत् ?

न) गङ्गासावावस्पर्द्धत्वस्य  
 दुःखरूपत्वात् । कर्तृत्वोपरमे च  
 मोक्षविच्छेदात् । तत्रादविद्या-  
 क्षमकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वा  
 तन्व्यवस्थानं मोक्ष-इति । स्वर्ग

पूर्व०-विद्या और कर्म इनका  
 कर्ता नित्य होनेके कारण विद्या  
 और कर्मके अविच्छिन्न प्रवाहसे  
 होनेवाला मोक्ष नित्य ही हास  
 जाहिये । ऐसा मनें तो ?

सिद्धांती-गङ्गा, गङ्गाप्रवाहके  
 समान जो बहता है वह तो दुःख-  
 रूप है । [ कत उससे मोक्षकी प्राप्ति  
 नहीं होसकती, और यदि उसीसे  
 मोक्ष माना जाय तो भी ] कर्तृत्वकी  
 निवृत्ति होनेपर मोक्षका विच्छेद हो  
 जायगा । कत अविद्या कायला  
 और कर्म-इनके उपानान कारणकी  
 निवृत्ति होनेपर आत्मस्वरूपमें स्थित  
 हो जाता ही मोक्ष है-एह सिद्ध

आत्मा ब्रह्म । तद्विज्ञानादविद्या  
निवृत्तिरिति ब्रह्मविद्यार्थोपनिष  
दारम्यथे ।

उपनिषदिति विद्योच्यते;  
अपिपञ्च तच्छीलिनां गर्भज-  
मिति न्मज्जरादिनिश्चात

नात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो गोप  
निगमपितृत्वादुपनिषण्णं वासां  
पर भेष इति । तदर्धत्वाद्  
ग्रन्थोऽप्युपनिषद् ।

होता है । तथा स्वयं आत्मा ही ब्रह्म  
है और उसके ज्ञानसे ही अविद्याकी  
निवृत्ति होती है, वरत जब ब्रह्म-  
ज्ञानके क्रिये उपनिषद् का आरम्भ  
किया जाता है ।

अपना सेवक करनेवाले पुत्रोंके  
गम, जन्म और जरा आदिको निशासन  
(उच्छेद) करने या उनका बर्धन  
(नाश) करनेके कारण 'उपनिषद्'  
शब्दसे विद्या ही कही जाती है ।  
अपना ब्रह्मके समीप से जानेवाली  
होनेसे या इसमें परम श्रेय ब्रह्म  
उपस्थित है इसलिये [यह विद्या 'उप-  
निषद्' है] । उस विद्याके ही क्रिये  
होनेके कारण मन्त्र भी 'उपनिषद्' है ।

श्रीशान्तिस्तोत्रं शांतिपाठ

ॐ श नो मित्र श वरुण । श नो भवत्वर्थमा ।  
श न इन्द्रो वृहस्पति शं नो विष्णुरुद्रक्रम । नमो  
ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव  
प्रत्यक्षं ब्रह्म वद्विष्यामि । ऋतं वद्विष्यामि । सत्यं  
वद्विष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् ।  
अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः ॥ १ ॥

[ प्राणहृति और दिनका अभिमानी देवता ] मित्र (सूर्यदेव)  
हमारे क्रिये सुखकर हो । [ अग्राणहृति और रात्रिको अभिमानी ] वरुण

हमारे किये सुखावह हो [ नेत्र और सूर्यका अभिमानी देवता ] अर्यमा  
हमारे किये सुखप्रद हो । बभ्रुका अभिमानी इन्द्र तथा [ वाक् और  
बुद्धिका अभिमानी देवता ] बृहस्पति हमारे किये शान्तिदायक हो ।  
तथा विसुका पादभिक्षेप ( उग ) बहुत विस्तृत है वह [ पादाभिमानी  
देवता ] विष्णु हमारे किये सुखदायक हो । ब्रह्म [ रूप वायु ] को  
भक्तकर है । हे वायो ! तुम्हें भक्तकर है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो ।  
अतः तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । तुम्हींको अत ( शास्त्रोक्त निश्चित  
अप ) कहूँगा और [ क्योंकि वाक् और शरीरसे सम्बन्ध होनेवाले अथ  
यही तुम्हारे ही अवीज हैं इसलिये ] तुम्हींको मैं सरय कहूँगा । अतः तुम  
[ निवारणके द्वारा ] मेरी रक्षा करो तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले  
आचार्यकी भी [ उन्हें बहल्लभ-सामर्थ्य देकर ] रक्षा करो । मेरी रक्षा करो  
और बहल्लभ रक्षा करो । आभिमौक्तिक, आप्यात्मिक और आधिदैविक  
स्त्रीयों प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ॥ १ ॥

ॐ सुखं प्राणवृषेरह्यभि-

मानो देवतारमा मित्रो नोऽसाक  
मवतु । तथैवापानवृषे रात्रेऽभि-  
मानो देवतात्मा बरुणः । चक्षु  
ष्यादित्ये चाभिमान्यर्यमा ।  
षष्ठ इन्द्रः । वाचि बुद्धो च  
बृहस्पति । विष्णुरुक्रमो वि  
स्तीर्णक्रम पादयोरभिमानी ।  
एवमाधाप्यात्मदेवता छ नः ।  
अचत्विति सर्वप्राणुपन्नः ।

प्राणवृषि और दिवका अभिमानी  
देवता मित्र हमारे किये छ सुखरूप  
हो । इसी प्रकार अरामवृषि और  
रात्रिक अभिमानी देवता बरुण,  
नेत्र और सूर्यके अभिमान करनेवाला  
अर्यमा, बभ्रुके अभिमान करनेवाला  
इन्द्र, वाक् और बुद्धिका अभिमानी  
बृहस्पति तथा उक्रम अर्थात्  
विस्तीर्ण पादभिक्षेपवाला पादाभिमानी  
देवता विष्णु-शवादि सभी अप्यारम-  
देवता हमारे किये सुखदायक हो ।  
'अवतु' ( हो ) इस द्विपाक्य सभी  
वाक्योंके छाप सम्बन्ध है ।

वासु द्वि सुखकृत्वु विद्या-  
 भ्रवणभारजोपयोगा भ्रमविषये  
 न भविष्यन्तीति तदसुखकर्तृत्वं  
 प्राप्यते छं नो भवत्विति ।

ब्रह्म विविदिषुजा नमस्कार  
 वन्दनक्रिये वायुविषये ब्रह्म  
 विद्योपसर्गज्ञान्तर्यं क्रियेते । सर्व  
 क्रियाफलानां तदधीनत्वाद्  
 ब्रह्मवायुस्तस्मै ब्रह्मणे नमः ।  
 प्रह्वीमायं करोमीति वाक्यशेषः ।  
 नमस्ते तुभ्य हे वायो नमस्क-  
 रोमीति । परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां  
 वायुरेवाभिधीयते ।

किं च त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य  
 वाद्यं संनिष्ठमप्यवहितं प्रत्यक्ष  
 ब्रह्मासि यस्मात्तस्मान्नामेव  
 प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । श्रुतं  
 यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं शुद्धीं  
 सुपरिनिमित्तमर्थं तदपि स्वद

उनके सुखप्रद होनेपर ही ब्रह्म-  
 के व्रजन, वायु और उपयोग  
 निर्विघ्नत्वसे हो सकेंगे—इसक्रिये ही  
 थां जो मनुष्य आदि मन्त्रद्वारा  
 उनकी सुखावहताके क्रिये प्रार्थना  
 करी जाती है ।

जब ब्रह्मके विज्ञानद्वारा ब्रह्म  
 विद्याके विघ्नोन्नी शान्तिके क्रिये  
 वायुसम्बन्धी नमस्कार और वन्दन  
 क्रिये जाते हैं । समस्त कर्मोक्त  
 फल वायुके ही अधीन होनेके  
 कारण ब्रह्म वायु है । उस  
 ब्रह्मको मैं नमस्कार अर्थात् प्रह्वीमाय  
 ( विनीतमाय ) करता हूँ । वहाँ  
 करोमि यह क्रिया वाक्यशेष है ।  
 हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है—मैं  
 तुम्हें नमस्कार करता हूँ—इस प्रकार  
 यहाँ परोक्ष और प्रत्यक्षरूपसे वायु  
 ही कहा गया है ।

इसके सिवा क्योंकि वाद्य वायु  
 आदिके अपेक्षा तुम्हीं समीकर्ता—  
 अव्यवहित अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म हो  
 इसक्रिये तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म  
 कहूँगा । तुम्हींको श्रुत अर्थात् शास्त्र  
 और अनन्य कर्तव्यानुसार शुद्धिमें  
 सम्यक् रूपसे निमित्त क्रिया हुआ  
 अर्थ कहूँगा; क्योंकि यह [ श्रुत ]



धीनत्वात्त्वामेव वदिष्यामि ।  
सत्यमिति स एव वाक्त्वात्त्वाम्यां  
संपाद्यमानः, सोऽपि त्वदधीन  
एव संपाद्य इति स्वामेव सत्य  
वदिष्यामि ।

तत्सर्वस्मकं वाच्यास्य ब्रह्म  
मयैवं स्तुतं सन्मां विद्यार्थिनम-  
वतु विद्यासंयोजनेन । तदेव  
ब्रह्म वक्तारमाचार्यं वक्तृत्व-  
सामर्थ्यसंयोजनेनावतु । अवतु  
मामवतु वक्तारमिति पुनर्बचन-  
मादरार्थम् । ॐ शान्तिः शान्ति  
शान्तिरिति त्रिर्बचनमाभ्यात्मि-  
अभिभौतिकप्रधिदैविकानां विद्या-  
प्राप्त्युपसर्गाणां ब्रह्ममार्थम् ॥१॥

तुम्हारे ही अधीन है । वाक् और  
शरीरसे सम्पादन किया जानेवाला  
वह वच ही सत्य ब्रह्मता है, वह  
भी तुम्हारे ही अधीन सम्पादन किया  
जाता है। वत तुम्हींको मैं सत्य  
कहूँगा ।

वह वयुसङ्गक सर्वात्मक ब्रह्म  
मेरेद्वारा इस प्रकार स्तुति किये  
जानेपर मुझ विद्यार्थीको विद्यासे  
युक्त करके रखा करे । वही ब्रह्म  
ब्रह्म वाचार्यको वक्तृत्वसामर्थ्यसे  
युक्त करके तसम्प्री रखा करे । मेरी  
रखा करे और बचम्प्री रखा करे—इस  
प्रकार दो बार कहना वादरके किये  
है । 'ॐ शान्ति शान्ति शान्ति'—  
ऐसा तीन बार कहना विद्याप्राप्तिके  
आध्यात्मिक, आभिमीतिक और  
आभिव्यक्तिक विद्याकी शान्तिके  
किये है ॥ १ ॥

इति शक्तिब्रह्मार्थं प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥



## द्वितीय अनुवाक

श्रीशिक्षायाः प्यास्या

अर्धज्ञानप्रधानत्वाद् उपनिषदो

उपनिषद् अर्धज्ञानप्रधान है

ग्रन्थपाठे यज्ञोपरमो मा भूदिति

( अर्थात् अर्धज्ञान ही इसमें मुख्य है ), बन इस ग्रन्थके व्युत्पत्तिकर प्रकृत शिषिष्ठ न हो जाय—इसलिये पहले शिक्षाप्याय आरम्भ किया जाता है—

श्रीशिक्षायाः आरम्भत—

शिक्षां व्याख्यास्याम । वर्णं स्वरः । मात्रा घटम् ।

साम सन्तान । इत्युक्तं शिक्षाप्याय ॥ १ ॥

हम शिक्षाकी व्याख्या करते हैं । [ अकारादि ] वर्ण, [ उदात्तादि ] स्वर, [ इत्थादि ] मात्रा, [ शष्पोच्चारणमें प्राप्तका प्रवृत्तकृप ] बध, [ एक ही नियमसे उच्चारण करमाकर ] साम तथा सन्तान ( संज्ञिता ) [ ये ही नियम इस व्याख्यासे सीखे जाने योग्य हैं ] । इस प्रकार शिक्षाप्याय कहा गया ॥ १ ॥

शिक्षा शिक्षयतेऽनयति वर्णा

इससे वर्णादिक उच्चारण सीखा जाय उसे शिक्षा करते हैं अथवा जो सीखे जाय वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं । शिक्षाको ही 'शिक्षा' कहा गया है । ( शिक्षाशब्दमें ईकारका ) दीर्घत्व वैदिक प्रक्रियाक अनुस्मर है । उस शिक्षाकी हम व्याख्या करते हैं अर्थात् उसका सर्वभोजनसे रहित वर्णन करने हैं ।

पुषारण्यठक्षणम् । शिक्षयन्त

इति वा शिक्षा वर्णादय ।

शिक्षैव शिक्षा । दीर्घ्यं छान्दमम् ।

तां शिक्षां व्याख्यास्यामो विस्व

दृमा समन्तात्कथयिष्यामः ।

चक्षिणो वा स्यात्प्रतिष्ठस्य  
 व्याहृत्पूर्वस्य व्यक्तवाक्यमण एत-  
 द्रूपम् ।

एतन्न वर्णोऽकारादिः, स्वर  
 उदात्तादिः, मात्रा इत्याद्याः, षष्ठ  
 प्रथमविशेषः, सामवर्णानां मध्य  
 मङ्गुस्योच्चारणं समता, सन्तानः  
 सन्ततिः संहितेस्पर्धः । एष हि  
 शिक्षितम्योऽर्थः । शिक्षा यस्मिन्  
 व्याये सोऽयं श्रीश्राव्याय इत्येव  
 युक्त उदितः । उक्त इत्युपसं  
 हारार्थः ॥ १ ॥

‘व्याहृत्यास्याम्’ यह पद ‘नि’ और  
 ‘वाक्’ उपसर्गपूर्वक ‘चक्षिण्’ धातुके  
 स्थानमें वैकल्पिक ‘व्याम्’ आवेश  
 करनेसे निष्पन्न होता है । इसका  
 अर्थ स्पष्ट उच्चारण है ।

एतन्नो अकारादि वर्ण, उदात्तादि  
 स्वर, इत्यादि मात्राएँ, [ वर्णोंके  
 उच्चारणमें ] प्रथमविशेषरूप षष्ठ  
 वर्णोच्चे मध्यम वृत्तसे उच्चारण  
 करणारूप साम अर्थात् समता तथा  
 सन्तान—सन्तति अर्थात् संहिता—  
 यही शिक्षणीय विषय है । शिक्षा  
 जिस व्यायाममें है उस इस शिक्षा  
 व्यायामका इस प्रकार कथन यात्री  
 प्रकाशन कर दिया गया । यही  
 ‘उक्त’ पद उपसंहारके अर्थमें  
 है ॥ १ ॥

इति श्रीश्राव्याय द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥



# तृतीय अनुवाक

पौत्र प्रथमरक्षी संहितोपास ॥

अधुना संहितोपनिषदुच्यते— | अथ संहितासम्बन्धिनी उपनिषद्  
( उपसमा ) कथी जाती है—

सह नौ यश । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथान  
संहिताया उपनिषद् व्याख्यास्याम । पञ्चस्वधिकरणेषु ।  
अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । सा  
महासंहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी  
पूर्वरूपम् । धौरुत्तररूपम् । आकाश सधिः ॥ १ ॥

वायु सधानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधि  
ज्योतिषम् । अग्नि पूर्वरूपम् । आवित्य उत्तररूपम् ।  
आप सधिः । वैशुत सधानम् । इत्यधिज्योतिषम् । अथा-  
धिविद्यम् । आचार्य पूर्वरूपम् ॥ २ ॥

अन्तेवास्युत्तररूपम् । त्रिधा सधिः । प्रवचन-  
सधानम् इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्व-  
रूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा सधिः । प्रजननसधानम् ।  
इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम् । अघरा हनु पूर्वरूपम् । उत्तरा  
हनुरुत्तररूपम् । वाक्सधिः । जिह्वा सधानम् । इत्य

ध्यात्मम । इतीमा महासंहिता य एवमेता महासंहिता  
व्यारूपाता वेद । सधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्षसे  
नात्नायेन सुवर्गेण लोकेन ॥ ४ ॥

हम [ शिष्य और आचार्य ] दोनोंको साय साय पशु प्रात हो  
और हमें साय-साय ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो । [ क्योंकि जिन पुरुषोंकी  
बुद्धि साक्षात्पश्यन्ब्रह्मा परिमार्जित हो गयी है वे भी परमार्कतज्जको समझनेमें  
सहसा समर्थ नहीं होते, इसलिये ] अब हम पाँच अविकरणोंमें  
संहिताकी \* उपनिषद् [ अर्थात् संहितासम्बन्धी उपासना ] की  
व्याख्या करेंगे । अधिबोध, अधिज्ञोक्ति, अधिविषय, अधिप्रब और  
अध्यात्म—ये ही पाँच अविकरण हैं । परिब्रतजन उन्हें महासंहिता  
कहाकर पुकारते हैं । अब अधिबोध ( बोधसम्बन्धी ) दर्शन ( उपासना )  
का वर्णन किया जाता है—संहिताका प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण  
पुद्गल है मध्यभाग आकाश है ॥ १ ॥ और वायु सन्धान ( तनका  
परस्पर सम्बन्ध करनेवाला ) है [ अधिबोध-उपासकको संहितामें इस  
प्रकार दृष्टि करनी चाहिये ]—यह अधिबोध दर्शन कहा गया । इसके  
अनन्तर अधिज्ञोक्ति दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण  
अग्नि है, अन्तिम वर्ण आदित्य है, मध्यभाग आप ( जल ) है और विद्युत्  
सन्धान है [ अधिज्ञोक्ति-उपासकको संहितामें ऐसी दृष्टि करनी  
चाहिये ]—यह अधिज्ञोक्ति दर्शन कहा गया । इसके पश्चात् अधिविषय  
दर्शन कहा जाता है—इसकी संहिताका प्रथम वर्ण आचार्य  
है ॥ २ ॥ अन्तिम वर्ण शिष्य है, विषय सन्धि है और प्रवचन ( प्रश्नोत्तर  
रूपसे निरूपण करमा ) सन्धान है [—ऐसी अधिविषय-उपासकको दृष्टि

\* 'संहिता' शब्दका अर्थ अग्नि वा बज्रोंका समूह है । मित्र-मित्र  
बनोंके मित्रनेत्र ही शब्द बनते हैं। उनमें अब एक वर्णका बृहते वर्णके योग होता  
है तो उन पूर्वोक्त वर्णोंके योगसे 'सन्धि' कहते हैं और जिस शब्दोच्चारणसम्बन्धी  
शब्दके योगसे सन्धि होती है उसे 'सन्धान' कहा जाता है ।

करनी चाहिये ] । यह विद्यासम्बन्धी दर्शन कहा गया । इससे जागे अग्निप्रज दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताक्त प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा ( सन्तान ) सन्धि है और प्रजनन ( अष्टकर्मों मार्गगमन ) सन्धान है [—अग्निप्रज उपासकको ऐसी इष्टि करनी चाहिये ] । यह प्रजासम्बन्धी उपासनाका वर्णन किया गया ॥ १ ॥ इसके पश्चात् अम्पारप्रदर्शन कहा जाता है—इसमें संहिताक्त प्रथम वर्ण नीचेका हनु ( नीचेके होठसे ठोढोतकका माग ) है, अन्तिम वर्ण ऊपरका हनु ( ऊपरके होठसे नासिकतकका माग ) है, बाणी सन्धि है और जिह्वा सन्धान है [—ऐसी अम्पार उपासकको इष्टि करनी चाहिये ] । यह अम्पारप्रदर्शन कहा गया । इस प्रकार ये महासंहिताएँ कहलाती हैं । जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासंहिताओंको जानता है [ अर्थात् इस प्रकार उपासना करता है ] वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न और सर्गजोक्तसे समुक्त किया जाता है । [ अर्थात् उसे इन सबकी प्राप्ति होती है ] ॥ ४ ॥

उत्र संहितापुपनिस्त्यरिज्ञाननिमित्तं यद्यज्ञः प्रार्थ्यते तन्नाशक्तयोः शिष्याचार्ययोः सहैवास्तु । तन्निमित्तं च यद्ब्रह्मवर्षस्तजस्तच्च सहैवास्त्विति शिष्यवचनमाशी । शिष्यस्य ह्यहृतार्यत्वात्प्रार्थनोपपद्यते नाचार्यस्य । हृतार्यत्वात् । हृतार्यो षाचार्यो नाम भवति ।

उत्र संहितादि उपनिषद् [ अर्थात् संहितादिसम्बन्धिनी उपासना ] के परिज्ञानके कारण जिस यज्ञकी याचना की जाती है वह हम शिष्य और आचार्य दोनोंको साथ-साथ ही प्राप्त हो । तथा उसके कारण जो ब्रह्मतेज होता है वह भी हम दोनोंको साथ-साथ ही मिले—इस प्रकार यह कर्मना शिष्यका वाक्य है। क्योंकि अहृतार्य होनेके कारण शिष्यके किये ही प्रार्थना करना सम्भव भी है—आचार्यके किये नहीं क्योंकि वह हृतार्य होता है । जो पुरुष हृतार्य होता है वही आचार्य कहलाता है ।

अथानन्तरमध्ययनलक्षणविधानस्य, अतो यतोऽस्पर्यं ग्रन्थभाविता शुद्धिर्न शक्यते सहसार्थज्ञानविषयेऽभतारयितुमित्यतः संहिताया उपनिषद् संहिताविषयं दर्शनमित्येतद्ग्रन्थसनिष्ठयाम् व्याख्यास्यामः; पञ्चस्यधिकरणेषु व्याख्येयुः ज्ञानविषयेष्वित्यर्थः ।

इति तानीत्याह अधिलोके लोकेऽभि यदर्शनं तदधिलोकम् । तथाभिन्नाविषयमभिविषयमभिप्रय मप्यात्ममिति । ता एताः पञ्च विषया उपनिषदो लोकविमहा-वस्तु विषयत्वात्संहिताविषयत्वाच्च महत्त्वम् ताः संहिताय महत्संहिता इत्याचक्षते कथयन्ति वदन्ति ।

अथ तासां यथोपन्यस्तानामधिलोकं दर्शनमुच्यते । दर्शन-

‘अथ’ अर्थात् पहले कहे हुए व्ययनरूप विधानके अनन्तर ‘अतः’—क्योंकि ग्रन्थके व्ययनमें व्ययन कासक्त की हुई बुद्धिके सहसा अयज्ञान [ को प्रहण करने ] में प्रवृत्त नहीं किया जा सकता, इसलिये हम प्रत्यक्ष समीपार्थिनी संहितोपनिषद् अर्थात् संहिता सम्बन्धिनी दृष्टिकी पाँच अधिकरण—आद्य अर्थात् ज्ञानके विषयोंमें व्याख्या करेंगे [ तात्पर्य यह कि क्योंकि लियमें पाँच प्रकारके ज्ञान बतआयेगे ] ।

ये पाँच अधिकरण कौन-से हैं ? छे बतछते हैं—‘अधिष्ठाक’—जो दशम अक्षरविषयक हो उसे अधिलोक कहते हैं । इसी प्रकार अभिग्वीति, अभिविषय, अभिप्रय और अप्यग्रम भी समझने चाहिये । ये पञ्चविषय सम्बन्धिनी उपनिषदें लोकविमहा-वस्तुविषयिणी और संहितासम्बन्धिनी हैं; इसलिये वेदवेदाङ्गों इन्हें महती संहिता अर्थात् महासंहिता कहकर पुकारते हैं ।

अब ऊपर बतझयी हुई उक्त (पाँच प्रकारकी उपासनाओं) मेंसे पहले अधिलोक-दृष्टि बतझयी बतझी है ।

क्रमविवक्षार्योऽथशब्द सर्वत्र ।  
 पृथिवी पूर्वरूपं पूर्वं वर्णः पूर्वं  
 रूपम् । संदितायाः पूर्वं वर्णं  
 पृथिवीदृष्टिः कर्तव्येत्युक्तं भवति ।  
 तथा धौः उत्तररूपमाकाशोऽन्त  
 रिखलोकः संधिर्मध्यं पूर्वोत्तर  
 रूपयो संधीयेते असिन्पूर्वोत्तर  
 रूपे इति । वायुः संधानम् ।  
 संधीयतेऽनेनेति संधानम् । इत्य  
 भिलोकं दर्शनमुक्तम् । अपाधि-  
 न्यौत्तिपमित्यादि समानम् ।

इतीमा इत्युक्ता उप प्रदर्शन्ते ।

यः कश्चिदेवमेता महासंदिता  
 व्याख्याता वेदोपास्ते । वेदेत्यु  
 पासर्नं सादिज्ञानाधिकारात्  
 “इति प्राचीनयोम्योपास्त्व” इति  
 च वचनात् । उपासर्नं च यथा-

यहाँ दर्शनक्रम बताना इष्ट होनेके  
 कारण ‘अथ’ शब्दकी सर्वत्र अनुवृत्ति  
 करनी चाहिये । पृथिवी पूर्वरूप  
 है । यहाँ पूर्ववर्ण ही पूर्वरूप कहा  
 गया है । इससे यह बतझमा गया  
 है कि संदिता ( सन्धि ) के प्रथम  
 वर्णमें पृथिवीदृष्टि करनी चाहिये ।  
 इसी प्रकार पुष्पेक उत्तररूप  
 ( अन्तिम वर्ण ) है आकाश वर्णोत्  
 अन्तरिक्ष सन्धि-पूर्व और उत्तर  
 रूपका मध्य है अर्थात् इसमें ही  
 पूर्व और उत्तररूप एकत्रित किये  
 जाते हैं । वायु संधानम् है ।  
 जिससे सन्धि की जाय उसे संधान  
 कहते हैं । इस प्रकार कश्चिदेक  
 वचन कहा गया । इसीके समान  
 ‘अपाधिभ्योत्तिपम् इत्यादि मन्त्रोक्त  
 वचन भी समझना चाहिये ।

‘इति’ और ‘इमा’ इन शब्दोंसे  
 पूर्वोक्त दशानोक्त परामर्श किया  
 जाता है । जो कोई इस प्रकार  
 व्याख्या की हुई इस महासंदिताको  
 जानता अर्थात् उपासना करता है—  
 यहाँ उपासनाका प्रकरण होनेके  
 कारण ‘अथ’ शब्दसे उपासना समझना  
 चाहिये वैसे कि ‘इति प्राचीन  
 योग्योपास्त्व’ इस भाग ( १ । ३ । ७ में )  
 कहे जासकाले वचनसे सिद्ध होता है ।



धास्रं हुर्यप्रत्ययसन्तस्तिरसंकीर्णा  
 चास्रप्रत्ययै धास्रोक्कात्म्येन  
 विपया च । प्रसिद्धोपासन  
 श्रद्धार्थं लोके गुरुमुपास्ते  
 राजानमुपास्त इति । यो हि  
 गुर्वादीन्तन्तमुपशरति स उपास्त  
 इत्युच्यते । स च फलमाप्नोत्यु-  
 पासनक्ष । अथाऽत्रापि च य  
 एवं वेद संधीयते प्रजादिभिः  
 स्वर्गान्ति । प्रजादिफलान्याप्नो-  
 तीत्यर्थः ॥ १—४ ॥

शास्त्रानुसार समान प्रत्ययके प्रवाहक  
 नाम 'उपासना' है । वह प्रवाह विजा-  
 तीय प्रत्ययसे रहित और सात्विक  
 व्यात्मकके आशय करनेवाला हीना  
 चाहिये । अर्थमें 'गुरुकी उपासना  
 करता है' या 'राजाकी उपासना करता है'  
 इत्यादि वाक्योंमें 'उपासना' शब्दका  
 अर्थ प्रसिद्ध ही है । जो पुरुष गुरु  
 आदिकी निरन्तर परिचर्या करता  
 है वही 'उपासना करता है' ऐसा  
 कहा जाता है । वही उस उपासना-  
 का फल भी प्राप्त करता है । अतः  
 इस महासंहिताके सम्बन्धमें भी जो  
 पुरुष इस प्रकार उपासना करता है  
 वह [ मन्त्रमें जनकभये हुए ] प्रजासे  
 छेकर स्वर्गप्राप्त समस्त पदार्थोंसे  
 सम्पन्न होता है, अर्थात् प्रजादिकप  
 फल प्राप्त करता है ॥ १—४ ॥

इति धासावस्थां एतीयोऽनुवाकः ३ ३ ३



# चतुर्थ अनुवाक

श्री और बुद्धि कर्मनाशालीके छिये अप

और होमसम्बन्धी मन्त्र

यदलन्दसामिति मेघाकाम

अथ 'यदलन्दसाम्' इत्यादि

स्य भीकामस्य च तत्राप्तिसाधन

मन्त्रोंसे मेघाकामी तथा भीकामी

अपहोमाधुन्येते । "स मेन्द्रो

पुरयोके छिये ठमकी प्रासिक साधन

मेघया स्पृणोतु" "ततो मे धिय

अप और होम मतलबसे जाते हैं,

क्योंकि "अह इन्द्र मुझ मेघासे प्रसन्न

अथवा बहसुक्त करे" तथा "अतः

उस धीको तू मेरे पास आ" इन

वाक्योंमें [ अमरा मेघा और धी-

प्रासिके छिये की गयी प्रार्थनाके ]

लिङ्ग देखे जाते हैं ।

माबह" इति च लिङ्गदर्शनात् ।

यदलन्दसामृपमो विश्वरूप । अन्दोभ्योऽध्य

मृतात्सवभूष । स मेन्द्रो मेघया स्पृणोतु । अमृतस्य देव

धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्पणम् । जिह्वा मे

मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मण कोशोऽसि

मेघया पिहित । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥ १ ॥

कुर्वाणाचीरमात्मन । वासाऽसि मम गावश्च ।

अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे ध्रियमाबह । लोमशां पशुभि

सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा । विमायन्तु

ब्रह्मचारिण स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा ।

दमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिण

स्वाहा ॥ १ ॥

जा वेगोंमें रूपम ( श्रेष्ठ अथवा प्रधान ) और सर्वरूप है तथा वेदरूप अमृतसे प्रधानरूपसे आविर्भूत हुआ है वह [ ओंकाररूप ] इन्द्र ( सम्पूर्ण कामनाओंका ईश ) मुझे मेघामे प्रसन्न अथवा मस्युक्त करे । हे देव ! मैं अमृतत्व ( अमृतत्वके हेतुमूत ब्रह्मज्ञान ) का धारण करने वाला हूँ । मेरा शरीर त्रिषक्षण ( यीम्य ) हो । मेरी जिह्वा अरप्यत मधुमती ( मधुर भाषण करनेवाली ) हो । मैं कानोंसे लूष ग्रहण करूँ । [ हे ओंकार ! ] तू ब्रह्मका काय है और धीविक्र बुद्धिसे वैक्य हुआ है [ अर्थात् सौकिक बुद्धिये कारण तेरा ज्ञान नहीं होता ] । तू मेरी भक्षण करी हुई विद्याकी रक्षा कर । मेरे सिये बस, गौ और अन्न-पानको सर्वदा शीघ्र ही से आनेवाली और इनका विस्तार करनेवाली धीको [ भेद-बकरी आदि ] ऊमनामे तथा अन्य पशुओंके सहित बुद्धि प्राप्त करानेके अनन्तर तू मेरे पास आ—साहा । ब्रह्मचारीभोग मेरे पास आबे—साहा । ब्रह्मचारीभोग मेरे प्रति निष्कपट हों—साहा । ब्रह्मचारीभोग प्रमा ( परार्थ ज्ञान ) को धारण करे—साहा । ब्रह्मचारीभोग दम ( इन्द्रियदमन ) करे—साहा । ब्रह्मचारीभोग धाम ( मनोनिग्रह ) करे—साहा । [ इन मन्त्रोंके पीछे जो 'साहा' शब्द है वह इस बातको सूचित करता है कि ये हवनके सिये हैं ] ॥ १-२ ॥

यश्छन्दसां वेदानामुपम  
 न्येष्टरतोऽपि- इवर्षमः प्राधान्यात् ।  
 एवं शान्तिं विश्वरूप सर्वरूपः  
 सर्वधाम्स्याप्तेः । “तद्यथा श्र  
 हुना” ( छा ४० २ । २३ । ३ )  
 इत्यादि भुत्स्यन्वरात् । अत एव

जो [ ओंकार ] प्रधान होनेके कारण छन्द—वेदोंमें श्रेष्ठके समान श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण वाणीमें व्याप्त होनेके कारण विश्वरूप यामी सर्वमय है। जैसा कि ' जिस प्रकार शकुनों ( पक्षीकी नसों ) से [ सम्पूर्ण पक्षे व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है ओंकार ही यह सब कुछ है ] ” इस एक अन्य बुद्धिसे सिद्ध होता है । इसीसिये

पंभत्वमोङ्कारस्य । ओङ्कारो  
 अत्रोपास्य इति श्रुपमादि  
 शब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैषोङ्कारस्य ।  
 छन्दोम्यो वेदेभ्यो वेदा अमृतं  
 तस्मादमृतादधिसंभमूष । लोक  
 देववेदभ्याहृतिभ्यः सारिष्टं  
 त्रिष्टुभ्योः प्रजापतेस्तपस्यत  
 ओङ्कारः सारिष्टुभ्येन प्रत्यभ-  
 दित्यर्थः । न हि नित्यस्योङ्कार  
 स्वात्मसैत्रोत्पत्तिरेव कल्प्यते ।  
 स एषमृत ओङ्कार इन्द्र सर्व  
 कामेशः परमेश्वरो मा मां मेघया  
 प्रमृया स्पृणोतु प्रीणयतु बलभतु  
 वा । प्रजापतं हि प्रार्थ्यते ।

ओंकारकी श्रेष्ठता है । यहाँ ओंकार  
 ही उपासनीय है, इसलिये 'श्रुपमा'  
 आदि शब्दोंसे ओंकारकी स्तुति की  
 गानी उचित ही है । छन्द अर्थात्  
 वेदोंसे—वेद ही अमृत हैं, उस  
 अमृतसे जो प्रधानरूपसे हुआ है ।  
 तत्पर्य यह है कि लोक, देव, वेद  
 और ब्रह्मणियोंसे सर्वोत्कृष्ट सार ग्रहण  
 करनेकी इच्छासे तप करते हुए प्रजा  
 पतिके ओंकार ही सर्वोत्तम साररूपसे  
 मासित हुआ था, क्योंकि नित्य  
 ओंकारकी साक्षात् उत्पत्तिकी कल्पना  
 नहीं की जा सकती । यह इस  
 प्रकारका ओंकाररूप इन्द्र—सम्पूर्ण  
 कामनाओंका स्वामी परमेश्वर मुझे  
 मेघा-प्रजाके द्वारा प्रसन्न अपना सबल  
 करे इस प्रकार यहाँ बुद्धि-बलके  
 लिये प्राचना की जाती है ।

हे देव ! मैं अमृत—अमृतत्वके  
 हेतुमूल ब्रह्मज्ञानका धारण करने  
 नाञ्ज होऊँ, क्योंकि यहाँ ब्रह्मज्ञान  
 का ही प्रसङ्ग है । तथा मेरा शरीर  
 विशर्पण—विषद्यण अर्थात् योग्य  
 हो । [ मूलमें 'मृयासद' (हाई) यह  
 उत्तम पुरुषका प्रयोग है इसे ]  
 'मृयात्' (हो) इस प्रकार प्रथम पुरुष-  
 में परिणत कर लेना चाहिये । मेरी

अमृतस्य अमृतत्वहेतुमूलस्य  
 ब्रह्मज्ञानस्य तदधिकारात्, हे  
 देव धारणो भारयिता मृयास  
 भवेयम् । किं च शरीरं मे मम  
 विशर्पण विषद्यण योग्यमित्ये  
 तत् । मृयादिति प्रथमपुरुष  
 विपरिणाम । जिह्वा मे मधु

मत्तमा मधुमत्सतिशयेन मधुर  
मापिणीत्यर्थः । कर्णान्मां भोत्रा  
म्यां मूरि बहु विधुर्वं व्यधुव  
भोत्रा भूयासमित्यर्थः । आत्म  
ज्ञानयोग्यः कार्यकरणसघातो-  
ऽस्त्विति वाक्यार्थः । मेधा च  
तदर्धमेव हि प्रार्थ्यत ।

ब्रह्मणः परमात्मनः कोदो  
ऽसि । असेरिबोपलक्ष्यविष्टान  
त्वात् । स्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं  
त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते । मेधया  
लौकिकप्रज्ञया पिहित आच्छा-  
दितः स त्व सामान्यप्रज्ञैरविदि-  
ततस्व इत्यर्थः । श्रुत भवणपूर्व  
कमात्मज्ञानादिकं मे गोपाय  
रक्ष । तसप्राप्त्यविस्मरणादि  
दुर्बित्यर्थः । अपार्था एते मन्त्रा  
मेधाकामस ।

होमायास्त्वपुना भीकामस  
नोद्धरत मन्त्रा उच्यन्ते ।  
अत्र. प्रसंगे आबहन्त्यानयन्ती ।  
वितन्वाना विस्तारयन्ती । तनो-

भिहा मधुमत्तना—अतिशय मधुमती  
अर्थात् अत्यन्त मधुरमपिणी हो । मे  
कर्मोसे मूरि—अधिक मात्रमें धरण  
करूँ अर्थात् बड़ा भोत्रा होऊँ ।  
इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि  
मेरा शरीर और इन्द्रियसंघात आत्म-  
ज्ञानके योग्य हो । तथा उसीके  
क्रिये ही बुद्धिकी याचना की  
जाती है ।

परमात्माकी उपलब्धिका स्नान  
होनेके कारण व तत्कारके क्षेत्रके  
समान ब्रह्म यानी परमदमाका कोश  
है; क्योंकि व असक्य प्रतीक है—  
एकमें असकी उपलब्धि होती है ।  
यही व मेधा अर्थात् लौकिकी बुद्धि-  
से आच्छादित यानी ढका हुआ है;  
अर्थात् सामान्य-बुद्धि पुरुषोंके तेरे  
तत्त्वका ज्ञान नहीं होता । मेरे  
श्रुत अर्थात् धरणपूर्वक आत्म-  
ज्ञानादि विज्ञानकी रक्षा कर, अर्थात्  
उसकी प्राप्ति एवं अविस्मरण आदि  
कर । ये मन्त्र मेधाकामी पुरुषके  
अपके क्रिये हैं ।

अथ अस्मीकामी पुरुषके होमके  
क्रिये मन्त्र कतलाये जाते हैं—आक-  
हन्ती—अमेघकी; वितन्वाना—  
विस्तार करनेवाली, क्योंकि पतन

तेस्तस्कर्मस्वात् । कुर्वाणा निर्वर्त  
 मन्ती, अचीरमचिरं छिप्रमेव,  
 छान्दसो दीर्घः; चिर वा कुर्वा  
 णा आत्मनो मम, किमित्याह—  
 वासांसि वस्त्राणि मम गावश्च  
 गाभेति यावत्, अमपाने च  
 सर्वदैवमादीनि कुर्वाणा भीर्या  
 तां ततो मेघानिर्वर्तनात्परमा  
 पहानय । अमेधसो हि भीरन  
 र्थार्यधेति ।

किंविशिष्टाम् । सामशामजाभ्या-  
 दियुक्तामन्यैश्च पशुभिः संयुक्ता-  
 माबहेत्यधिकारादाङ्कार एवामि  
 संबध्यते । स्वाहा स्वाहाकारो  
 हामार्यमन्त्रान्तश्चापनार्थः । आ  
 यन्तु मामिति व्यवहितेन सं  
 बध् । ब्रह्मधारिणो विमायन्तु  
 प्रमायन्तु दमायन्तु उमायन्ति  
 स्यादि ॥ १० ॥

वातुभ्य अर्थ विस्तार करने ही है,  
 कुर्वाणा—करनेवाली, अचीरम्—  
 अचिर अर्थात् छीप्र ही, 'अचीरम्' में  
 दीर्घ ईकार वैदिक प्रक्रियाके अनुसार  
 है । अथ चिरं ( चिरकालवत् )  
 आत्मन —मेरे लिये करनेवाली, क्या  
 करनेवाली ! तो बतलते हैं—मेरे वस्त्र,  
 गौ और अश्व-पान इन्हें जो धी सृष्ट  
 ही करनेवाली है । उसे, मुक्ति प्राप्त  
 करनेके अनन्तर व मेरे पास च,  
 क्योंकि मुक्तिहीनके लिये तो कर्म  
 अनर्थक ही कारण होती है ।

किन् विशेषणोति युक्त भीको  
 आवे ! छोमरा अर्थात् भेद-बकरी  
 वाणि ऊनबाटोंके सहित और अन्य  
 पशुओंसे युक्त भीको वा । यहाँ 'आवह'  
 क्रियाका अधिकार होनेके कारण  
 [ उसके कर्ता ] ओंकारसे ही सम्बन्ध  
 है । स्वाहा—यह आहाकार होना  
 मन्त्रोक्त अस्त सूचित करनेके लिये  
 है । [ 'अ मायन्तु ब्रह्मधारिण ' इस  
 वाक्यमें ] 'आयन्तु माम्' इस प्रकार  
 'आ' का व्यर्थानयुक्त 'यन्तु' शब्दसे  
 सम्बन्ध है । [ इसी प्रकार मेरे प्रति ]  
 ब्रह्मधारिणो निष्कण हो । वे प्रमा-  
 नके कारण करें, इन्द्रिय-निमग्न करें,  
 मनोनिमग्न करें, शब्ददि ॥ १० ॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि  
स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश  
स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाह त्वयि मृजे स्वाहा ।  
यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां  
ग्रहचारिणो घातरायन्तु सर्वत स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि  
प्र मा पाहि प्र मा पथस्व ॥ ३ ॥

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ—स्वाहा । मैं अल्पत प्रशंसनीय और  
घनवान् होऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! मैं उस ब्रह्मकोशामृत तुझमें प्रवेश कर  
जाऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! यह व मुझमें प्रवेश कर—स्वाहा । हे भगवन् !  
उस सहस्रशाखापुष्प [ अर्थात् अनेकों भेदवाले ] तुझमें मैं अपने पाप-  
करणोंका शोधन करता हूँ—स्वाहा । जिस प्रकार एक निम्न प्रवेशाक्षी  
ओर जाता है तथा महीने अर्द्धर—संक्रमणमें अन्तर्हित हो जाते हैं,  
उसी प्रकार हे घात ! ब्रह्मचारीयोग सब ओरसे मेरे पास आये—  
स्वाहा । व [ शरणागतोंका ] आश्रयस्थान है वत मेरे प्रति भासमान  
हो, व मुझे प्राप्त हो ॥ ३ ॥

यशो वशस्वी बने जनसमूह  
ऽसानि भवानि । श्रेयान्प्रवस्यतरो  
वस्यसो वसीयसो वसुतराऽसुमत्-  
रादासानीत्यन्वयः । किं च तं  
ग्रहणः कोशमूर्तं स्वा स्वां हे भग  
भगवन्पूजाभ्यप्रविशानि प्रविश्य  
पानन्यस्त्वदात्मैव भवानीत्स्वर्धः ।

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ तथा  
श्रेयान्—प्रशस्ततर और वस्यस —  
वसीयस अर्थात् वसुमान्से भी  
वसुमान् यामी अल्पत बनी पुरुषों-  
से भी विशेष घनवान् होऊँ । तथा  
हे भग—भगवन्—पूजनीय । ब्रह्मके  
कोशामृत उस तुझमें मैं प्रवेश करूँ  
तात्पर्य यह कि तुझमें प्रवेश करके  
तुझसे अनन्य हो मैं तेरा ही रूप

स त्वमपि मा मां मग मगवन्  
प्रविश । आषयारेकत्वमेवास्तु ।  
तस्मिस्त्वपि सहस्रशास्त्रे बहु  
शास्त्रामेदे हे मगवन्, निसृजे  
शोषयाम्यहं पापकृत्याम् ।

यथा लोक आपः प्रवता  
प्रषणवता निम्नवता देशेन यन्ति  
गच्छन्ति । यथा च मासा  
अहर्जरं संवत्सरोऽहर्जरः ।  
अहोमिः परिवर्तमानो लोकाञ्चर  
यतीत्यहानि वासिञ्जीर्यन्त्यन्त  
र्भवन्तीत्यहर्जरः । सं च यथा  
मासा भन्त्येवं मां ब्रह्मचारिणा  
हे घातः सर्वस्य विघातः मामा-  
यन्त्यागच्छन्तु सर्वतः सर्व  
दिग्म्यः ।

प्रतिवेशः—भ्रमापनयनस्थान  
मासन्नगृहमित्यर्थ । एवं स्वं  
प्रतिवेश इव प्रतिवशस्त्वच्छी  
लिनां सर्वपापदुःखापनयनम्या  
नमसि, अथा मा मां प्रति प्रमादि  
प्रकाशपात्मान प्रपद्यस्व च ।

हो जाऊँ, तथा तू मी, हे मग-  
मगवन् ! मुझमें प्रवेश कर । अर्थात्  
हम दोनोंकी एकता ही ही पाय । हे  
मगवन् ! उस सहस्रशास्त्रा—अनकों  
शास्त्रामेदशास्त्रे तुझमें मैं अपने पाप-  
कर्मोंका शोषन करता हूँ ।

लोकमें जिस प्रकार जल प्रवण-  
वन्—मिम्नतायुक्त देशकी ओर जाते  
हैं और माहीने जिस प्रकार अहर्जरमें  
जन्तहित होते हैं । अहर्जर संवत्सर  
को कहते हैं, क्योंकि वह वह  
दिनोंके रूपमें परिवर्तित होता हुआ  
लोकोंको भीण करता है अथवा  
उसमें वह—दिन जीर्ण पानी  
अन्तर्भूत होते हैं इसलिये वह  
अहर्जर है । उस संवत्सरमें जिस  
प्रकार माहीने जाते हैं उसी प्रकार  
हे घात ! मेरे पास सब ओरसे—  
सम्पूर्ण दिशाओंसे ब्रह्मचारीयोग  
आवे ।

‘प्रतिवेश’ भ्रमनिवृत्तिक स्थान  
अर्थात् समीपकर्ता गृहको कहते हैं ।  
इस प्रकार तू प्रतिवेशके समान प्रति-  
वेश पानी अपना अनुशीघ्रन करन  
वालोंका दुःखनिवृत्तिक स्थान है ।  
अतः तू मेरे प्रति अपनेको प्रकाशित  
कर और मुझ प्राप्त हो, अर्थात्



मां स्वविद्वामिव लोहं स्वन्मयं  
स्वदात्मानं कुर्वित्यर्थाः ।

श्रीकामोऽस्मिन्विद्याप्रकरणे  
विशेषणोऽभिधीयमानो धन्य  
वप्रभोपयोगः र्यः । धर्म च कर्म-  
र्षम् । कर्म चोपात्तदुरितक्षयम् ।  
तत्त्वमे हि विद्या प्रकाशते । तथा  
च स्मृतिः “ज्ञानमुत्पद्यत पुसां  
क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथादर्श  
तडे प्रस्ये पश्यन्त्यात्मान  
मात्मनि” (महा० श्वा० २०४ ।  
८, शक्य० १ । २३७ । ६ )  
इति ॥ ३ ॥

पारदसंयुक्त ज्वहेके समान व मुझे  
धपनेसे वमिन्न कर छे ।

इस ज्ञानके प्रकरणमें जो ज्वली-  
की काममा कही जाती है वह मनके  
छिये है, धर्म कर्मके छिये होता है,  
और कर्म प्राप्त हुए पापोंके क्षयके  
छिये है । मनके क्षीण होनापर ही  
ज्ञानका प्रकाश होता है, वैसे कि  
ज्व स्मृति भी कहती है—“पाप-  
कर्मोंका क्षय हो जानेपर ही पुण्य-  
के ज्ञान होख है । जिस प्रकार  
दर्पणके स्वच्छ हो जानेपर उसमें  
सुख देखा जा सकता है उसी  
प्रकार हुए अन्त करणमें आत्मका  
साक्षात्कार होता है” ॥ ३ ॥

इति श्रीशिवस्त्यां बहुर्योऽनुवाक ३ ४ ॥



## पञ्चम अनुवाक

व्याहृतिरूप ब्रह्मसूत्री उपासना

संहिताधिपयमुपासनमुक्तं त  
दनु मेधाक्लामस्य श्रीक्लामस्य  
मत्रा अनुक्रान्ताः । ते च पार  
म्येण विद्यापयोगार्था एव ।  
अनन्तर व्याहृत्यात्मनो व्रतणा  
ञ्चरुपासन स्वाराज्यफल प्र  
स्तुयते—

पहले संहितासम्बन्धिनी  
उपासनाका बणन किया गया ।  
तत्पश्चात् मेधाकी ब्रह्मनाशाले तथा  
श्रीकामी पुरुषोक्ते त्रिये मन्त्र बतत्रये  
गये । वे भी परम्परामे ज्ञानके  
उपयोगरु त्रिये हो है । उसके  
पश्चात् वह विसरु फल स्वाराज्य  
है उस व्याहृतिरूप ब्रह्मसूत्री आन्तरिक  
उपासनाका आरम्भ किया जाता है—

भूमुवः सुवरिति वा एतास्त्रिस्रो व्याहृतय ।  
सासामु ह रमैतां चतुर्थी माहाध्वमस्य प्रवेदयते ।  
मह इति । तद्दत्त । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवता ।  
भूरिति वा अय लोकः । मुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यमौ  
लोकः ॥ १ ॥

मह इत्यादित्य । आदित्येन वायु सर्वे लोका  
महीयन्ते । भूरिति वा अग्नि । मुव इति वायु । सुवरित्या  
दित्य । मह इति चन्द्रमा । चन्द्रमसा वायु सर्वाणि  
ज्योतींषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋच । मुव इति  
सामानि । सुवरिति यजूंषि ॥ २ ॥

मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाच सर्वे वेदा महीयन्ते  
 मूरिति वै प्राण । सुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह  
 इत्यन्नम् । अन्नेन वाच सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा  
 एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद ।  
 स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमाश्रहन्ति ॥ १ ॥

‘मू, सुव और सुव’—ये तीन व्याहृतिर्यो हैं । उनमेंसे ‘मह’  
 इस श्रौषी व्याहृतिको महाचमस्य ( महाचमसका पुत्र ) जानता है ।  
 यह मह ही ब्रह्म है । यही आत्मा है । अन्य देवता उसके अङ्ग ( अवयव )  
 हैं । ‘मू’ यह व्याहृति यह श्लोक है, ‘सुव’ अन्तरिक्षश्लोक है  
 और ‘सुव’ यह स्वर्गश्लोक है ॥ १ ॥ तथा ‘मह’ आदित्य है । आदित्यसे  
 ही समस्त श्लोक वृद्धिको प्राप्त होते हैं । ‘मू’ यही अग्नि है, ‘सुव’  
 यजु है, ‘सुव’ आदित्य है तथा ‘मह’ चन्द्रमा है । चन्द्रमासे ही  
 सम्पूर्ण ज्योतिषो वृद्धिको प्राप्त होती हैं । ‘मू’ यही ऋक् है, ‘सुवः’  
 साम है, ‘सुव’ यजु है ॥ २ ॥ तथा ‘मह’ ब्रह्म है । ब्रह्मसे ही  
 समस्त वेद वृद्धिको प्राप्त होते हैं । ‘मू’ यही प्राण है, ‘सुव’  
 अपान है, ‘सुव’ व्यान है तथा ‘मह’ अन्न है । अन्नसे ही समस्त  
 प्राण वृद्धिको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार ये चार व्याहृतिर्यो हैं । इनमेंसे  
 प्रत्येक चार चार प्रकारकी है । जो इन्हें जानता है वह ब्रह्मको  
 जानता है । सम्पूर्ण देवगण उसे बलि ( उपहार ) समर्पण करते हैं ॥ ३ ॥

मूर्ध्वः सुवरिति; इतीत्युक्तोप

व्याहृतिभ्यश्च

प्रदर्शनार्थः । एता  
 स्तिस्र इति च प्रद

क्षितानां परामर्शार्थः । परामृष्टाः

‘मूर्ध्वः सुवरिति’ इसमें ‘इति’  
 शब्द पूर्वकथित [ व्याहृतिर्यो ] को  
 ही प्रदर्शित करनेके लिये है,  
 ‘एतास्तिस्त्र’ ये शब्द भी पूर्व  
 प्रदर्शित [ व्याहृतिर्यो ] के ही  
 परामर्शके लिये हैं । ‘इ’ इस

सार्यन्ते वा इत्यनेन । तिस्र एता  
 प्रसिद्धा ब्याहृतयः सार्यन्ते  
 तावत् । तासामिषं चतुर्थी  
 ब्याहृतिर्मह इति । तामेतां चतुर्थी  
 महाचमसस्यापस्यं माहाचमस्यः  
 प्रवेदयते । ठ ह स इत्येतेषां वृत्ता  
 नुक्थनार्थत्वाद्द्विदितवान्ददर्शे  
 त्यर्थः । माहाचमस्यग्रहणमार्या-  
 नुस्मरणार्थम् । ष्वपिस्मरणमप्यु-  
 पासनाङ्गमिति गम्यत इहो-  
 पदेशात् ।

येन माहाचमस्येन इटा ब्या

ब्याहृतिः ऋः हृतिर्मह इति उट्टस्य ।

प्रबन्धस्य महद्भिः प्रसन्न महद्भ

ब्याहृति । किं पुनस्तत् ? स आत्मा

आप्नातव्याप्तिकर्मणः आत्मा ।

अभ्यस्यसे परापृष्ट ब्याहृतिर्षोका  
 स्मरण यताया जाता है । वर्षात्  
 [ इन शब्दोंसे ] ये तीन प्रसिद्ध  
 ब्याहृतिर्षो स्मरण दिश्यपी जाती  
 हैं । उनमें 'मह' यह चौथी  
 ब्याहृति है । उस इस चौथी  
 ब्याहृतिको महाचमसक्य पुत्र माहा-  
 चमस्य जानता है । किन्तु 'ठ ह  
 स' ये तीन निपात अतीत घटना-  
 क्य अनुकथन करनेके लिये होनेके  
 कारण इसक्य अर्थ 'जानता था'  
 'देखा था' इस प्रकार होगा ।  
 [ ब्याहृतिके द्रष्टा ] अधिक्य अनु-  
 स्मरण करनेके लिये 'माहाचमस्य'  
 यह नाम लिखा गया है । इस प्रकार  
 यहाँ उपदेश होनेके कारण यह  
 जाना जाता है कि अधिक्य अनु-  
 स्मरण भी उपासनाक्य एक अङ्ग है ।

जिस 'मह' नामक ब्याहृतिको  
 माहाचमस्येन टसा या वह प्रसन्न है ।  
 प्रसन्न भी महान् है और ब्याहृति भी  
 मह है । और यह क्या है ! वही  
 आत्मा है । 'ब्याहृति' अर्थात्  
 'आप्' भावने 'आत्मा' शब्द  
 निश्चयन इत्यादि है । क्योंकि अनेक

इतराश्च व्याहृतयो लोका देवा  
 वेदाः प्राणाश्च मह इत्यनेन  
 व्याहृत्यात्मनादित्यचन्द्रब्रह्माभ-  
 भूतेन व्याप्यन्ते यतः अतो-  
 ऽज्ञान्यवयवा अन्या देवताः ।  
 देवताग्रहणमुपलक्षणार्थं लोका-  
 दीनाम् । मह इत्येतस्य व्या-  
 हृत्यात्मना देवलोकद्वयः सर्वे  
 ऽवयवभूता अतोऽथ आहादित्या-  
 दिभिर्लोकद्वया महीयन्ते इति ।  
 आत्मनो ब्रह्मनि महीयन्ते, महानं  
 बुद्धिरुपधयः । महीयन्ते वर्धन्ते  
 इत्यर्थः ।

अयं लोकोऽग्निर्ऋग्वेदः प्राण  
 प्रतिष्ठाति इति प्रथमा व्याहृति-  
 क्त्वात् वेदाः मूरिति । एवमुच्य-  
 रोचरैकैश्च चतुर्धा भवति ।  
 मह इति ब्रह्म । प्रजेत्योद्धारः,  
 स्रष्टाधिकारेऽन्यस्यासभवात् ।  
 उक्तार्थमन्यत् ।

देव, वेद और प्राणरूप अन्य  
 व्याहृतियों आदित्य, चन्द्र, ब्रह्म एव  
 अन्नस्वरूप व्याहृत्यात्मक मह से  
 व्याप्त हैं, इसलिये वे अन्य देवता  
 इसके अङ्ग-अवयव हैं । यहाँ  
 लोकद्विक उपलक्षण करानेके लिये  
 'देवता' शब्दका प्रहण किया  
 गया है । क्योंकि देव और लोक  
 आदि सभी 'मह' इस व्याहृत्यात्मके  
 अवयवस्वरूप हैं, इसीलिये ऐसा  
 कहा है कि आदित्यादिके योगसे  
 लोकदि महत्वात्से प्राप्त होते हैं ।  
 आत्मासे ही अङ्ग महत्वात्से प्राप्त  
 हुआ करते हैं । 'महान' शब्दका  
 अर्थ बुद्धि—उपधय है । अतः  
 'महीयन्ते' इसका बुद्धिके प्राप्त  
 होते हैं' यह अर्थ है ।

यह लोक, अग्नि, ऋग्वेद और  
 प्राण—ये पहली व्याहृति मूः हैं; इसी  
 प्रकार उचरोचर प्रत्येक व्याहृति चार  
 चार प्रकारकी है । \* 'मह' ब्रह्म  
 है; ब्रह्मका अर्थ जोकर है; क्योंकि  
 शब्दके प्रकरणमें अन्य किसी ब्रह्म-  
 का होना असम्भव है । छेप सकका  
 अर्थ पहले कहा जा चुका है ।

\* यथा अन्तरिक्षलोका वायु, तमवेद और अगान—ये दूसरी व्याहृति  
 मूः हैं। सुषोका आदित्य, बहुरैर और ध्यान—ये तीसरी व्याहृति मूः हैं  
 तथा आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न—ये चौथी व्याहृति महः हैं ।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्वेति ।  
 ता वा एता मूर्ध्वः सुवर्मह इति  
 ऋतस्र एकैकश्चतुर्धा चतुष्प्र  
 काराः । धास्रब्दः प्रकारवचनः ।  
 षतस्रश्चतस्रः सत्यश्चतुर्धा भव  
 न्तीत्यर्थः । तासां यथाक्त्स्नानां  
 पुनरुपदेशस्तथैवोपासननियमार्थः ।  
 ता यथोक्तव्याहृतीर्यो वेद स  
 वेद विजानाति । किम् ? ब्रह्म ।

ननु "तद्ब्रह्म स आत्मा" इति

ज्ञाते ब्रह्मणि न वक्तव्यमपिज्ञात

वस्तु वेद ब्रह्मेति ।

न, तद्विशेषविवक्षुत्वाद्

व्यवहार- दोषः । सत्य विद्वान्तं

वाक्योरेकवचनत्वात् चतुर्थव्याहृत्यात्मा

ब्रह्मेति न तु तद्विद्योपो इदयान्त-

रूपलम्बत्वं मनोमयत्वादिश्च ।

वे ये चारो व्याहृतिर्यो चार  
 प्रकारकी हैं । अर्थात् वे ये मू,  
 भुव, सुव और मह चार व्याहृतिर्यो  
 प्रत्येक चार चार प्रकारकी हैं ।  
 'वा' शब्द 'प्रकार' का वाचक है ।  
 अर्थात् वे चार चार होती हुई चार  
 प्रकारकी हैं । उनकी जिस प्रकार  
 पहले कल्पना की गयी है उसी  
 प्रकार उपासना करनेका नियम  
 करनेका क्रिये उनका पुन उपदेश  
 किया गया है । उक्त उपर्युक्त  
 व्याहृतिर्योको जो पुरुष जानता है  
 वही जानता है । किसे जानता है ?  
 ब्रह्मको ।

शङ्का—'ब्रह्म ब्रह्म है, वह आत्मा  
 है' इस वाक्यद्वारा [ मह रूपसे ]  
 ब्रह्मको जान लेनेपर भी उसे न  
 जाननेके समान [ उसे जो जानता  
 है ] वह ब्रह्मको जानता है' ऐसा  
 कहना तो ठीक नहीं है ।

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करनी  
 चाहिये, क्योंकि उस [ ब्रह्मविषयक  
 ज्ञान ] के विषयमें विशेष कहना  
 अभीष्ट होनेके कारण इस प्रकार  
 कहनेमें कोई दोष नहीं है । यह  
 ठीक है कि इतना तो जान लिया  
 कि चतुष्प्र व्याहृतिरूप ब्रह्म है; किन्तु  
 इसके भीतर उपलब्ध होना तथा मनो  
 मयत्वरूप उसकी विशेषताओंका

‘शान्तिसमुद्गम्’ इत्येवमन्तो  
 विशेषणविशेष्यरूपो धर्मपूगो न  
 विज्ञायत इति तद्विषयु हि  
 शास्त्रमविज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा स  
 वेद ब्रह्मेत्याह । अतो न दोषः ।  
 यो हि वक्ष्यमाणेन धर्मपूगेन  
 विद्विष्टं ब्रह्म वेद स वेद ब्रह्मे  
 त्यभिप्रायः । अतो वक्ष्यमाणा-  
 नुवाकैर्नैकवाक्यतास्वः तभयोर्ध-  
 नुवाकयोरेकमुपासनम् ।

तिङ्गाद्य, भूरित्यपौ प्रति  
 विष्टवीत्यादिकं तिङ्गमुपासनै  
 कस्वै । विधायकामात्राद्य । न हि  
 ‘वेद’ ‘उपासितव्यः’ इति विधा  
 यकः कश्चिच्छब्दाऽस्ति । प्याइत्य  
 नुवाकै ‘ता मा वेद’ इति च

तो ज्ञान नहीं हुआ । [ काले अनुवाक  
 में ] ‘शान्तिसमुद्गम्’ इस वाक्यक  
 कता हुआ विशेषण-विशेष्यरूप धर्म-  
 समूह कात नहीं है; उसे बतलानेकी  
 इच्छासे ही शास्त्रन ब्रह्मको न जाने  
 हुएके समान मानकर ‘वह ब्रह्मको  
 जानता है’ ऐसा कहा है । इसकिये  
 इसमें कोई दोष नहीं है । इसका  
 अभिप्राय यह है कि जो पुरुष आगे  
 बतलाये जानेवाले धर्मसमूहसे  
 निश्चिह्न ब्रह्मको जानता है वही  
 ब्रह्मको जानता है । अत आगे  
 कहे जानेवाले अनुवाकसे इसकी  
 एकवाक्यता है; क्योंकि इन दोनों  
 अनुवाक्योंकी एक ही उपासना है ।

[ वाक्य ] छिन्न होनेसे भी यही  
 बात सिद्ध होती है । [ छठे  
 अनुवाकमें ] ‘भूरित्यपौ प्रतितिष्ठति’  
 इत्यादि कश्चिन्मि इम दोनों अनुवाक्योंमें  
 एक ही उपासना होनेका छिन्न है ।  
 कोई विधान करनेवाला शब्द न  
 होनेके कारण भी ऐसा ही समझा  
 जाता है । [ छठे अनुवाकमें ] ‘वेद’  
 ‘उपासितव्य’ ऐसा कोई [ उपासना  
 का ] विधान करनेवाला शब्द  
 नहीं है । प्याइति-अनुवाकमें  
 जो ‘तन ( प्याइतियों ) को जो  
 जानता है ऐसा वाक्य है वह

वक्ष्यमाणार्थत्वाश्रोपासनमेदक  
 वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषत्रिव-  
 क्षुत्वादित्यादिनोक्तम् । सर्वे देवा  
 अस्मा एषं विदुषेऽङ्गभूता आत्र  
 हन्त्यानयन्ति षलि स्वाराज्य  
 प्राप्नो सत्यामित्यर्थः ॥ १-३ ॥

आगे बतझयी जानवाही उपासनाक  
 त्रिये होनक कारण [ पूर्वोक्त  
 उपासनासे ] उसका भेद करन  
 बाध्य नहीं है । उसी उपासनाको  
 आगे बतखाना क्यों इष्ट है यह बात  
 'उसकी विशेषता बतखानेकी इच्छा  
 होनेके कारण' आदि हेतुओंसे  
 पहले कहा ही चुके हैं । ऐसा  
 जाननेबाले उपासकको उसके अङ्ग-  
 भूत समस्त देवगण बलि ( उपहार )  
 समर्पण करते हैं अर्थात् स्वायम्भुवकी  
 प्राप्ति हो जानेपर उसके त्रिये उपहार  
 जाने हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥ १ ३ ॥

एति शीघ्रापस्त्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

## पष्ठ अनुवाक

बसके साक्षात् उफप्रधिरयान ह्मयाकसका वर्णन

भूर्ध्रुवःसुवःस्वरूपा मह इत्य  
 तस्य व्याहृत्स्वारमना प्रज्ञणाऽह्-  
 गान्यन्या देवता इत्युक्तम् । यस्य  
 सा अङ्गभूतात्मस्यैतस्य प्रज्ञण  
 माधादुपलब्ध्यर्थमुपासनाय च  
 हृदयाकाश ध्यानमुच्यते धान-  
 ग्राम इव विष्णाः । तसिदिह  
 तद्भूतानास्मानं मनामयचादि

भू, ध्रुव और सुव—ये अन्य  
 देवता 'मह' इस व्याहृतिरूपधिरण्य-  
 गर्भसहक प्रज्ञके अङ्ग हैं—वेसा  
 पहले कहा जा चुका है । जिसके  
 वे अङ्गभूत हैं उस इस प्रज्ञकी साक्षात्  
 ट-टस्थ और उपासनाक त्रिये  
 ह पाकस स्यन बतझया जना है,  
 जैसे कि किणुक त्रिये साधकम ।  
 उसने उनसना त्रिये जाअपर  
 ही व- मनामयचत्त्रिधर्मभिरिह



धर्मविशिष्टं साधादुपलभ्यते । मद्य इयेषीपर रणे इए र्वावलेके  
 पाण्डाविषामलकम् । मार्गम् समान साक्षात् उपलब्ध होता है ।  
 सर्वस्ममावप्रतिपत्तये वक्तव्य इसके सिद्ध सर्वस्ममावकी प्राप्तिके  
 इत्यनुवाक आरभ्यते— अनुवाकका आरम्भ किया जाता है—

स य ण्योऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्मय पुरुषो  
 मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके । य  
 एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनि । यत्रासौ केशान्तो  
 विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले भूरित्यमौ प्रतितिष्ठति ।  
 मुव इति धायौ ॥ १ ॥

सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति  
 स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः ।  
 श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं  
 ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्ति-  
 समृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोगयोपास्त्र ॥ २ ॥

यह जो हृदयके मध्यमें स्थित आकाश है उसमें ही यह मनोमय अमृत  
 सरुप हिरण्मय पुरुष रहता है । तालुकोंके बीचमें और [उनके मध्य] यह  
 जो स्तनके समान [ मोसलसुभ ] कटक हुण्ड है [ उसमें होकर जो सुषुम्ना  
 गच्छी ] वहाँ केशोंका मूळभाग विभक्त होकर रहता है उस मूर्धप्रदेशमें  
 मस्तकके कपालोंको विदीर्ण करके निकल गयी है यह इन्द्रयोनि [ अर्थात्  
 परमात्माकी प्राप्तिकर मार्ग ] है । [ इस प्रकार उपासना करनेवाला ] पुरुष  
 प्राणप्रवणके समय मूर्धका मेहन कर 'मू' इस ध्याइतिरूप ध्यामि  
 स्थित होता है [ अर्थात् 'मू' इस ध्याइतिकर धिस्तम करनेसे ध्यामि  
 रूप होकर इस लोकके ध्यास करता है ] । इसी प्रकार 'मुव' इस

व्याहृतिक्रम ध्यान करनेसे बापुमें ॥ १ ॥ 'ध्रुव' इस व्याहृतिक्रम विस्तार करनेसे आश्रित्यमें तथा 'मह' की उपासना करनेसे ब्रह्ममें स्थित हो जाता है। इस प्रकार वह स्वारात्म प्राप्त कर लेता है तथा मनके पति (ब्रह्म) को पा लेता है। तथा वाणीका पति, चक्षुका पति, श्रोत्रका पति और सारे विज्ञानका पति हो जाता है। यही नहीं, इससे भी बड़ा हो जाता है। यह आकाश शरीर, सूर्यस्वरूप प्राणायाम, मन आनन्द (ब्रह्मके लिये मन आनन्दस्वरूप है), शान्तिसम्पन्न और अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीनयोग शिष्य ! वृ इस प्रकार [ उस ब्रह्मकी ] उपासना कर ॥ २ ॥

'सः' इति व्युत्क्रम्य 'अयं  
व्युत्क्रम्य-पुरुषः' इत्यनेन स  
बोधने लक्षणं व्युत्क्रम्यते । य एषो-  
ऽन्तर्हृदये हृदयस्यान्तर्हृदयमिति  
पुण्डरीककारो मांसपिण्डः प्रा-  
णायतनोऽनेकनाडीसुपिर ऊर्ध्व  
नाडोऽधोमुखा विश्वमाने पशौ  
प्रसिद्ध उपलभ्यते । तस्यान्तर्ध-  
एव आकाश प्रसिद्ध एव पर  
क्षेत्रक्षेत्रवत्, तस्मिन्सोऽयं पुरुषः ।  
पुरि क्षयनात्पूषा या भूरादया  
सोऽयं यनेति पुरुषः । मनोमया

स इस पहले प्रकार, पाठ-  
क्रमको छोड़कर आगेके अर्थ  
पुरुष' इस फलसे सम्बन्ध है। जो  
यह अन्तर्हृदयमें हृदयके भीतर  
[ आकाश है ] । हृदय अर्थात्  
श्वेत कलसके आकारका मांस  
पिण्ड, जो प्राणका आश्रय, अनेको-  
नाडियोंके द्विद्वय तथा ऊपरको  
नाड और नीचेको मुसकशा है,  
जो कि पशुका आश्रय (वध)  
किये जानेपर त्यज्यता लक्ष्य  
होता है। उसके भीतर जो यह  
कलसके अन्तर्धर्ती आकाशके  
समान प्रसिद्ध आकाश है उसीमें  
यह पुरुष रहता है, जो शरीरका  
पुत्र शयन करनेके कारण क्षयता  
उत्पन्न नू आश्रित सम्पूर्ण अक्षरोंको  
पूरित किया हुआ है इसलिये  
'पुरुष कहलाता है। वह मनामय



द्विर'कपाले विनिर्गता या सेन्द्र  
 योनिरिन्द्रस्य ब्रह्मणो योनिर्मार्गः  
 स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः ।

तथैव त्रिद्वान्मनोमयात्मदर्शी  
 चन्द्रमया मूर्धो विनिष्कम्या  
 चतुर्थमिति स्व- स्व लोकाद्याधिष्ठा-  
 मन्मतिः ता मूर्तिव्यवहृति-  
 रूपो योऽभिर्महता ब्रह्मणोऽङ्गभूत  
 तस्मिन्नसौ प्रतितिष्ठत्वरन्यात्मनेमं  
 लोकां व्याप्नोतीत्यर्थः । तथा सुव  
 इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि वाच्यौ ।  
 प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते । सुपरिति  
 तृतीयव्याहृत्यात्मन्यादित्ये । मह  
 इत्यङ्गिनि चतुर्थं व्याहृत्यात्मनि  
 ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति ।

तेष्वारमभावेन स्थित्वाप्नोति  
 चतुर्थं ब्रह्मभूत स्वराज्यं  
 प्रकृतं देवदेव स्वराज्यं स्वयमेतं  
 राज्याधिपतिर्मवति, अङ्गभूतानां  
 देवानां यथा ब्रह्म । इवाद्य

पार-विमल यानी किरीण करती हुई  
 बाहर निकल गयी है वही इन्द्रयनि-  
 इन्द्र अर्थात् ब्रह्मस्यो योनि-मार्ग यानी  
 ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति का द्वार है ।

इस प्रकार उस सुपुत्रना नाबीशरा  
 जाननेवाला अर्थात् मनोमय आत्म  
 का साक्षात्कार करनेवाला पुरुष  
 मूर्धद्वारसे निकलकर इस लोकका  
 अधिष्ठता जो महान् ब्रह्मका अङ्ग  
 भूत 'मू' ऐसा व्याहृतिकरूप अङ्गि  
 है उस अङ्गिमें स्थित हो जाता है;  
 अर्थात् अङ्गिकरूप होकर इस लोक  
 को व्याप्त कर लेता है । इसी प्रकार  
 वह सुव इस द्वितीय व्याहृति  
 रूप वायुमें स्थित हो जाता है-इस  
 प्रकार 'प्रतितिष्ठति' इस क्रियाकी  
 अनुवृत्ति की जाती है । तथा [ एत  
 ही ] 'सुव' इस तृतीय व्याहृति  
 रूप आदित्यमें और 'मह' इस  
 चतुर्थ व्याहृतिकरूप अङ्गो ब्रह्ममें स्थित  
 होता है ।

उनमें आत्मस्वरूपमें स्थित हो वह  
 ब्रह्मभूत हुआ स्वराज्य-शराज्यको  
 प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस प्रकार  
 ब्रह्म अङ्गभूत देवनाओंका अधिपति  
 है उसी प्रकार स्वयं उनका राजा-  
 अधिपति हो जाता है । तथा उसका

सर्वेऽस्मै बलिमाषइन्त्यङ्गभूता  
 यथा ब्रह्मणे । आप्नोति  
 मनसस्पतिम् । सर्वेषां हि  
 मनसां पतिः सर्वात्मकत्वाद्ब्र-  
 ह्मणः । सर्वे हि मनोभिस्तन्मनुते ।  
 तदामोत्येवं विद्वान् । किं च वा  
 अपतिः सर्वासां वाचां पतिर्मवति ।  
 तथैव चक्षुस्पतिश्चक्षुषां पतिः ।  
 श्रोत्रपतिः श्रोत्राणां पतिः ।  
 विद्वानपतिर्विद्वानानां च पतिः ।  
 सर्वात्मकत्वात्सबन्प्राणिनां क्रयै-  
 स्तद्दान्भवतीत्यर्थः ।

किं च ततोऽप्यधिकतरमेतद्ब्र-  
 वति । किं तद् ? उच्यते । आकाश  
 शरीरमाकाशः शरीरमस्याकाश  
 बद्धा घूर्णन् शरीरमस्येत्याकाश  
 शरीरम् । किं तद् ? प्रकृतं ब्रह्म ।  
 सत्यात्म सत्यं मूर्तामूर्तमवितर्ध  
 स्वरूपं चात्मा स्वभावाऽस्य तदिदं  
 सस्यात्म । प्राणाराम प्राणप्वा-

अङ्गभूत समस्त देवगण जिस प्रकार  
 ब्रह्मको उसी प्रकार इस अपने वाणीके  
 श्रिये उपहार व्यक्त हैं । तथा वह  
 मनस्पतिको प्राप्त हो जाता है । अतः  
 सर्वात्मक होनेके कारण सम्पूर्ण मनो-  
 क्त पति है, वह सारे ही मनोद्वारा मग्न  
 करता है । इस प्रकार व्यासनादारा  
 विद्वान् उसे प्राप्त कर लेता है । यही  
 नहीं, वह वाक्पति—सम्पूर्ण वाणियों  
 का पति हो जाता है, तथा चक्षु  
 पति—नेत्रोंका स्वामी, श्रोत्रपति—  
 कर्णोंका स्वामी और विद्वानपति—  
 विद्वानोंका स्वामी हो जाता है ।  
 तात्पर्य यह है कि सर्वात्मक होनेके  
 कारण वह समस्त प्राणियोंकी  
 इन्द्रियोंसे इन्द्रियघन होता है ।

यही नहीं, वह तो इससे भी बड़ा  
 हो जाता है । सो क्या ? क्लृप्तते  
 है—अकारशरीर—आकार जिसका  
 शरीर है अथवा आकारशक्ते समान  
 जिसका सूत्र शरीर है वही आकार  
 शरीर है । यह है कीन ! प्रकृत  
 ब्रह्म [ अर्थात् वह ब्रह्म जिसका यहाँ  
 प्रकरण है ] । सत्यात्म—जिसका  
 मूर्तामूर्तकप सत्य यानी अविष्य ही  
 स्वरूप आत्मा अर्थात् स्वभाव है उसे  
 'सत्यात्म' कहते हैं । प्राणाराम—

राम आळीढा यस्य तस्य प्राणा-  
 रामम् । प्राणानां वारामो यस्मि-  
 नस्तस्य प्राणारामम् । मनश्चानन्दम्  
 चानन्दमूर्तं सुखकृदेव यस्य  
 मनस्तन्मनश्चानन्दम् । शान्ति  
 समुद्रं शान्तिरूपसमाः, शान्तिश्च  
 तत्समुद्रं च शान्तिसमुद्रम् । शान्त्या  
 वा समुद्रं तदुपसम्यत  
 इति शान्तिसमुद्रम् । अमृतम  
 मरणधर्मि । पृथक्वाचिद्वरण-  
 विशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ  
 द्रष्टव्यमिति । एवं मनोमयत्वा-  
 दिधर्मैर्विशिष्टं यद्योक्तं ब्रह्म हे  
 प्राचीनयोग्य, उपास्त्वेत्याचार्य  
 वस्तुनोक्तिरुत्तरार्था । उक्तस्तु  
 पासनाद्युपायः ॥ १-२ ॥

प्राणोंमें जिसका रक्षण अर्थात् धरिणा  
 है अथवा जिसमें प्राणोंका आरमण  
 है उसे प्राणाराम कहते हैं । मन  
 चानन्दम्—जिसका मन चानन्दमूर्त  
 अर्थात् सुखकारी ही है वह मन  
 चानन्द कहलाता है । शान्तिसमुद्रम्  
 —शान्ति उपशमको कहते हैं, जो  
 शान्ति मी है और समुद्र मी वह  
 शान्तिसमुद्र है अथवा शान्तिके  
 द्वारा उस समुद्र काकी उपकृति  
 जाती है, इसलिये उसे शान्तिसमुद्र  
 कहते हैं । अप्रुत—अमरणधर्म । ये  
 अधिकरणमें आये हुए विशेषण उस  
 मनोमय धर्ममें ही जानने चाहिये ।  
 इस प्रकार मनोमयत्व आदि धर्मोंसे  
 विविध उपर्युक्त क्रमकी, हे प्राचीन  
 योग्य । व उपासना कर—यह  
 आचार्यकी उक्ति [ उपासनाके ]  
 आदरके लिये है । 'उपासना'  
 शब्दका अर्थ तो पहले बतलाया ही  
 जा चुका है ॥ १-२ ॥

इति श्रीशाङ्ख्यस्य पञ्चोऽनुवाकः ३ १ ३



## सप्तम अनुवाक

पाठकत्वरूपसे बहकी उपासना

यदेतद्व्याहृत्यात्मकं ब्रह्मो  
 पाठकमुक्तं तस्मैवेदानीं पृथिव्या-  
 दिपाठकस्वरूपेषोपासनमुच्यते ।  
 पञ्चसंख्याधोमास्पृष्टिच्छन्द  
 संपद्यि । ततः पाठकस्व  
 सर्वस्य । पाठक्य यज्ञः ।  
 “पञ्चपदा पङ्क्तिः पाठका  
 यज्ञः” इति श्रुतेः । तेन यस्सर्व  
 लोकधारमान्तं च पाठकं परि  
 कल्पयति यज्ञमेव तत्परिकल्प  
 यति । तेन यज्ञेन परिकल्पितेन  
 पाठकत्वरूपः प्रभापतिमभि  
 संपद्यते । तत्कर्म पाठकमिदं  
 सर्वमित्यत आह—

यह जो व्याहृतिरूप ज्ञात  
 मन्त्र कतजाया गया है अथ पृथिवी  
 आदि पाठकरूपसे उसीकी उपासना-  
 का कर्म निश्चय जाता है—[ पृथिवी  
 आदि पौंच-पौंच संख्याक्रमे पदार्थ हैं  
 तथा पङ्क्तिछन्द भी पौंच पङ्क्तियाँ  
 हैं, अतः ] पौंच संख्याका योग होनेसे  
 [ उन पृथिवी आदिसे ] पङ्क्तिछन्द  
 सम्पन्न होता है । इसीसे उन सबका  
 पाठकत्व है । यज्ञ भी पाठक है, जैसे  
 कि “पङ्क्तिछन्द पौंच पङ्क्तियाँ हैं,  
 यज्ञ पाठक है” इस दृष्टिसे ज्ञात  
 होता है । अतः जो लोकसे लेकर  
 ब्रह्मपर्यन्त सबको पाठकरूपसे  
 कल्पना करता है वह पाठकी ही  
 कल्पना करता है । उस कल्पना  
 किये हुए यज्ञसे वह पाठकत्वरूप  
 प्रजापतिको प्राप्त हो जाता है ।  
 अन्तर्गत ही वह सब किस प्रकार  
 पाठक है ! सो एक बातगोटे है—

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिश । अग्निर्वायुरा  
 दित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो धनस्पतय

आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाप्यात्मम् । प्राणो  
 ध्यानोऽपान उदान समान । चक्षु श्रोत्रं मनो वाक्  
 त्वक् । धर्म मांसस्नावास्त्रि मज्जा । एतद्विधिविधाय  
 ऋषिरवोऽवत् । पाङ्क्त वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव  
 पाङ्क्तस्सृणोतीति ॥ १ ॥

पृथिवी, अस्तरिख, पुत्रोक, दिशार्थे और अत्रान्तर दिशार्थे [—यह  
 लोकपाङ्क्त ], अग्नि, वायु, आदित्य चन्द्रमा और मक्षत्र [—यह देवता  
 पाङ्क्त ] तथा आप, ओषधि वनस्पति आकाश और आत्मा—ये  
 अधिभूतपाङ्क्त हैं । अब अप्यत्मपाङ्क्त बतलाते हैं—प्राण, मन,  
 अपान उदान और समान [—यह वायुपाङ्क्त ]; चक्षु, श्रोत्र, मन  
 त्वक् और त्वक् [—यह इन्द्रियपाङ्क्त ] तथा धर्म, मांस, मज्जा, अस्त्रि  
 और मज्जा [—यह पातुपाङ्क्त—ये सब मिश्रकर अप्यत्मपाङ्क्त हैं ] । इस  
 प्रकार पाङ्क्तपासनाकर विधानकर ऋषिमे कहा—‘यह सब पाङ्क्त ही  
 है; इस [ आध्यात्मिक ] पाङ्क्ते ही उपासक [ वाद्य ] पाङ्क्तके पूर्ण  
 करण है’ ॥ १ ॥

पृथिव्यन्तरिषं पौर्विद्योऽवा  
 निविच न्तरदिष इति लो-  
 भवत्त्वर कपाङ्क्तम् । अग्नि  
 वायुरादित्यचन्द्रमा नक्षत्राणीति  
 देवतापाङ्क्तम् । आप ओषध्या  
 वनस्पतय आकाश आत्मेति  
 मृतपाङ्क्तम् । आत्मेति विराट्  
 मृताधिपरात् । इत्यधिभूतमि-

पृथिवी, अस्तरिख, पुत्रोक,  
 दिशार्थे और अत्रान्तर दिशार्थे—ये  
 लोकपाङ्क्त हैं, अग्नि, वायु, आदित्य  
 चन्द्रमा और मक्षत्र—ये देवतापाङ्क्त  
 हैं । अब, ओषधि, वनस्पति आकाश  
 और आत्मा—ये मृतपाङ्क्त हैं । यहाँ  
 ‘आत्मा’ विराट्के कहा है; क्योंकि  
 यह मृत्युके अधिकरण है इत्यधि  
 भूतम्’ यह वाक्य अधिभूत और



आमित्येव ब्राह्मणः प्रथस्यन्  
 प्रथनं करिष्यमध्येप्यमाणा  
 ओमित्येवाह । ओमित्येव प्रसि-  
 पद्यतेऽप्येतुमित्यर्थः । ब्रह्मवेद  
 सुपाप्नवानीति प्राप्नुयां ब्रह्मी  
 प्यामीत्युपाप्नोत्येष ब्रह्म ।  
 अथवा ब्रह्म परमात्मा तसु  
 पाप्नवानीत्यात्मानं प्रथस्यन्प्राप  
 यिष्यन्नोमित्येवाह । स च तेना  
 ज्ञारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव । अज्ञा  
 रपूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलदत्तं  
 पश्चात्पश्चादोद्धारं ब्रह्मेत्युपासी  
 तेति वाक्यार्थः ॥ १ ॥

प्रथन अर्थात् अध्ययन करनेवाला  
 ब्रह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता  
 है, अर्थात् 'ॐ' ऐसा कहकर ही  
 वह अध्ययन करनेके लिये प्रवृत्त होता  
 है । 'मैं ब्रह्म यानी बे-को प्राप्त करूँ  
 अर्थात् उसे प्रहण करूँ' ऐसा कहकर  
 वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है ।  
 अथवा [ यों समझे कि ] 'मैं ब्रह्म-  
 परमात्माको प्राप्त करूँ इस प्रकार  
 आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे वह  
 'ॐ' ऐसा ही कहता है और  
 उस 'ॐ' शब्दके द्वारा वह ब्रह्मको  
 प्राप्त कर ही लेता है । इस प्रकार  
 क्योंकि 'ॐ' शब्दपूर्वक प्रवृत्त होनेवाली  
 क्रियाएँ फलवन्ती होती हैं इसलिये  
 'ॐ' शब्द ब्रह्म है इस तरह उसकी  
 उपासना करे—यह इस वाक्यका  
 अर्थ है ॥ १ ॥

इति श्रीसायणव्याख्यानस्योऽमुवाकः ॥ ८ ॥



## नवम अनुवाक

श्रुतादि शुभकर्मोक्तौ अथत्यक्ताभ्यताश्च विधान

विद्यानादेवाप्नोति स्वाराज्य

विद्यानासे ही स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है—एसा [छठे अनुवाकम्] कहे अनेके कारण थीन और स्मार्त कर्मों की व्यर्थता प्राप्त होती है । यह प्राप्त न हो, इसलिये पुरुषापके प्रति कर्मोंका साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है—

मित्युक्तस्वाच्छ्रौतस्मार्तानां कर्म

पामानर्थक्य प्राप्तमित्यतस्तन्मा

प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति

साधनत्वप्रदर्शनार्थमिदोपन्यास

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्याय-  
प्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्याय-  
प्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अमयश्च स्वाध्याय  
प्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च  
स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ।  
प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।  
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवच्चा  
रायीतर । तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि स्वाध्यायप्रवचने  
एवेति नाको मौद्गल्य । तद्धि तपस्तद्धि तप ॥ १ ॥

ऋत ( शास्त्रादिशास्त्र मुद्दिमें निश्चय किया हुआ धर्म ) तथा  
स्वाध्याय ( शास्त्राध्ययन ) और प्रवचन ( अध्यापन अथवा वेदतठरूप  
प्रवचन ) [ ये अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं ] । सत्य ( सत्यभाषण )  
आप और प्रवचन [ अनुष्ठान किये जाने चाहिये ] । दम



## अष्टम अनुवाक

ओङ्कारोपासनाद्य विधान

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपा  
सनमुक्तम् । अनन्तर च पाङ्क्त  
स्वरूपेण तस्यैवोपासनमुक्तम् ।  
इदानीं सर्वोपासनाङ्गमूठस्योङ्का  
रस्यापासनं विधित्स्यते । परापर  
ब्रह्मदृष्ट्या उपास्यमान आङ्कारः  
शुद्धमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्ति-  
साधनं भवति । स बालम्बनं  
ब्रह्मणः परस्यापरस्य च, प्रति  
मेव विष्णोः । “एतेनैवात्पत्तने-  
नैकतरमन्वेति” ( प्र० उ० ५ ।  
२ ) इति श्रुते ।

व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासनाकर  
निरूपण किया गया; उसका पञ्चात्  
वसीकी उपासनाकर पाङ्क्तरूपसे  
वर्णन किया । अब सम्पूर्ण  
उपासनाङ्गके अङ्गमूठ ओङ्कारकी  
उपासनाकर विधान करना चाहते  
हैं । पर एवं अमर ब्रह्मदृष्टिसे  
उपासना किये जानपर ओङ्कार—  
केवल शब्दमात्र होनेपर भी पर  
और अर ब्रह्मकी प्राप्तिकर साधन  
होता है । वही पर और अपर ब्रह्मकर  
आत्म्यन है जिस प्रकार कि  
विष्णुकर आत्म्यन प्रतिमा है ।  
इसी आत्म्यनसे उपासक [ पर  
पा अर ] किसी एक ब्रह्मकी प्राप्त  
हो जाता है” इस श्रुतिसे यही  
बात प्रमाणित होती है ।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्ये  
तदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो ध्रावयेत्याध्रावयन्ति । ओमिति  
सामानि गायन्ति । ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति ।  
ओमित्यध्वर्यु प्रतिगर प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा  
प्रसूति । ओमित्यभिहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मण  
प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥



वेति कृतसुक्तमामित्यनुकरोत्य-

इस प्रकार किये हुए कल्पनको सुनकर वृत्ता पुरुष [ उसको लीकृत करते हुए ] 'ऽ' ऐस अनुकरण करता है । इसकिये ओंकार अनुकृति है । 'ह' 'स्म' और 'इ' — ये निपात प्रसिद्धिके सूचक हैं, क्योंकि ओंकारका अनुकृतिव तो प्रसिद्ध ही है ।

न । अत ओङ्कारोऽनुकृतिः ।

इस प्रकार प्रसिद्धार्यापि योग्याः । प्रसिद्धोङ्कारस्यानुकृतित्वम् ।

इसके सिवा 'ओ आभय' इति अपि च 'ओ आभय' इति प्रकार प्रेरणापूर्वक पाण्डिकडेग प्रतिभजन कराते हैं । तथा 'ऽ' ऐसा कहकर सामगान करनेवाले सामक्य गान करते हैं । दास शंभन करनेवाले भी 'ऽ' शोम्' ऐसा कहकर शंभोकर पाठ करते हैं । तथा अपूर्ण्येग प्रतिगरे प्रति 'ऽ' ऐसा उच्चारण करते हैं । 'ऽ' ऐसा पढ़कर ब्रह्म अनुज्ञा देना है अर्थात् प्ररणपूर्वक आभजन करना है और 'ऽ' कहकर बह अग्निदेवके त्रिये जडा देना है । अतद् यद्व्यनक लो यदनेर कि 'ऽ' इत्यन करना है 'ऽ' ऐसा पढ़कर उमे

इ स वा इति प्रसिद्धार्यापि

योग्याः । प्रसिद्धोङ्कारस्यानु

कृतित्वम् ।

अपि च 'ओ आभय' इति

प्रेषपूर्वकमाभावयन्ति । तथोमिति

सामगानि गायन्ति सामगा ।

अंओमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्र

शंसिताराऽपि । तथोमित्यभ्यर्च्युः

प्रतिगारं प्रतिगृणाति । आमिति

प्रथा प्रसोत्यनुजानाति प्रेषपूर्व

कमाभावयति । आमिष्यपि

शोत्रमनुजानाति । जुहामीत्युक्त

आमित्येव ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्  
 प्रवचनं करिष्यन्प्येप्यमाण  
 ओमित्येवाह । ओमित्येव प्रति  
 पद्यतेऽप्येतुमित्यर्थः । ब्रह्मवेद  
 मुपाप्नवानीति प्राप्नुयां प्रही  
 प्यामीत्युपाप्नोत्येष ब्रह्म ।  
 अथवा ब्रह्म परमात्मा तसु  
 पाप्नवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन्प्राप  
 यिष्यन्नोमित्येवाह । स च तेना  
 ह्वारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येष । ओह्वा  
 रपूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलदक्ष्यं  
 मसात्सादोह्वार ब्रह्मेरुपासी-  
 तेति वाक्यार्थ ॥ १ ॥

प्रवचन अर्थात् अभ्ययन करनेवाला  
 ब्राह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता  
 है, अर्थात् 'ॐ' ऐसा कहकर ही  
 वह अभ्ययन करनेके क्रिये प्रवृत्त होता  
 है । 'मैं ब्रह्म यानी वेदको प्राप्त करूँ  
 अर्थात् उसे ग्रहण करूँ' ऐसा कहकर  
 वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है ।  
 अथवा [ जो समझो कि ] मैं ब्रह्म-  
 परमात्माको प्राप्त करूँ' इस प्रकार  
 आत्मको प्राप्त करनेकी इच्छासे वह  
 'ॐ' ऐसा ही कहता है और  
 उस उच्चारणके द्वारा वह ब्रह्मको  
 प्राप्त कर ही लेता है । इस प्रकार  
 क्योंकि उच्चारणपूर्वक प्रवृत्त होनेवाली  
 क्रियाएँ फलवन्नी होती हैं इसलिये  
 'ॐ' उच्चारण ब्रह्म है' इस तरह उसकी  
 उपासना करे—यह इस वाक्यका  
 अर्थ है ॥ १ ॥

इति श्रीसायणव्यासमहोऽमुपाका ॥ ८ ॥



## नवम अनुवाक

श्रुतादि सुमन्त्रोऽपि ज्ञानस्य कर्मन्वयताया विधान

विद्वानादेवाप्नोति स्वाराग्न्य

मित्युक्तत्वाच्चैतस्मात्तानां कर्म

णामानर्थक्यं प्राप्तमित्यतस्त्वन्मा

प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति

साधनत्वप्रदर्शनार्थमिदोपन्यास -

विद्वानसे ही स्वाराग्न्य प्राप्त कर  
लेता है—ऐसा [उठे अनुश्रवण] करे  
जानेके कारण धीन और स्मात कर्म-  
की व्यर्थता प्राप्त होती है। वह  
प्राप्त न हो, इसलिये पुरुषार्थके प्रति  
कर्मोंका साधनत्व प्रदर्शित करनेके  
लिये यहाँ उनका उल्लेख किया  
जाता है—

श्रुत च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्याय-  
प्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्याय-  
प्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अभयश्च स्वाध्याय  
प्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च  
स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ।  
प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।  
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा  
राधीतर । तप इति तपोनित्यं पौरुशिष्टि स्वाध्यायप्रवचने  
एवेति नाको मौद्गल्य । तदिति तपस्तदिति तप ॥ १ ॥

श्रुत ( शास्त्रादिशत युक्तिमें निश्चय किया हुआ अर्थ ) तथा  
स्वाध्याय ( शास्त्राध्ययन ) और प्रवचन ( अप्यपन कथना वेत्तव्यव्य  
प्रवचन ) [ ये अनुष्ठान क्रिये जाने योग्य हैं ] । सत्य ( सत्यभाषण )  
तथा साध्याय और प्रवचन [ अनुष्ठान क्रिये जान चाहिये ] । दम



( इन्द्रियदमन ) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ इन्हें सदा करता रहे ] ।  
 शम ( मनोनिग्रह ) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ ये सर्वदा कर्तव्य हैं ] ।  
 अग्नि ( अग्न्याधान ) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ इनका अनुष्ठान  
 करे ] अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ ये नित्य कर्तव्य हैं ] ।  
 अग्निषि ( अतिपिसुत्कार ) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ इनका नियम  
 से अनुष्ठान करे ] । मानुषकर्म ( विष्णुहादि औक्तिक व्यवहार ) तथा  
 स्वाध्याय और प्रवचन [ इन्हें करता रहे ] । प्रजा ( प्रजा उपन करना )  
 तथा स्वाध्याय और प्रवचन [—ये सदा ही कर्तव्य हैं ] । प्रबन ( शत्रु  
 क्लेशमें भार्यागमन ) तथा [ इसके साथ ] स्वाध्याय और प्रवचन  
 [ करता रहे ] । प्रजाति ( पीत्रोत्पत्ति ) तथा स्वाध्याय और प्रवचन  
 [ इनका नियतरूपसे अनुष्ठान करे ] सत्य ही [ अनुष्ठान करने योग्य  
 है ] ऐसा रपीतरका पुत्र सत्यवधा मानता है । तप ही [ नित्य अनुष्ठान  
 करने योग्य है ] ऐसा नित्य तपोनिष्ठ पौकसिद्धिक मत्त है । स्वाध्याय  
 और प्रवचन ही [ कर्तव्य हैं ] ऐसा मुद्रकके पुत्र शक्यका मत्त है ।  
 अत वे ( स्वाध्याय और प्रवचन ) ही तप हैं, वे ही तप हैं ॥ १ ॥

श्रुतमिति व्याख्यातम् । स्वा-

ध्यायोऽभ्ययनम् । प्रवचनमभ्या-  
 पनं ब्रह्मयज्ञो वा । यतान्युत्ता-  
 दीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशेषः ।  
 सत्यं च सत्यवचनं यथाभ्या-  
 म्यातार्थं वा । तपः कृच्छ्रादि ।  
 दमा वाद्यकरणापन्नमः । शमा

श्रुत—इसकी व्याख्या पहले  
 [ श्रुतं इन्द्रियमि—इस वाक्यमें ] की  
 जा चुकी है । 'स्वाध्याय' अभ्ययनको  
 कहते हैं, तथा 'प्रवचन' अभ्यापन  
 या ब्रह्मयज्ञका नाम है । ये श्रुत  
 आदि अनुष्ठान किये जाने योग्य  
 हैं यह वाक्यशेष है । सत्य—सत्य  
 वचन अथवा जैसा पहले [ सत्यं  
 इन्द्रियमि—इस वाक्यमें ] व्याख्या  
 की गयी है, वह तप—कृच्छ्रादि दम-  
 वाद्य इन्द्रियोंका निग्रह शम—चित्त-  
 की शान्ति; [ ये सब करने योग्य



कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि  
 नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा  
 नाम पौरुषिष्टिः पुरुषिष्ट्या-  
 पत्यं पौरुषिष्टिराचार्यो मन्यते ।  
 स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति  
 नाक्य नामता मुहुरस्यापत्यं  
 मौद्गस्य आचार्यो मन्यते । तद्धि  
 तपस्तद्धि तपः । हि यस्मात्स्वा-  
 ध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते  
 एवानुष्ठेये इति । उक्तानामपि  
 सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पु-  
 नर्नैवमादरार्थम् ॥ १ ॥

ऐसा तपोनित्य-नित्य तपोनि-  
 त्यवा तपोनित्य नामशब्द पौरुशिष्टि  
 -पुरुशिष्ट्या पुत्र पौरुशिष्टि आचार्य  
 मानता है । स्वाध्याय और प्रवचन  
 ही अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं-  
 ऐसा नाक्य नामशब्द मुहुरस्य  
 पुत्र मौद्गस्य आचार्य मानता है ।  
 वही तप है, वही तप है ।  
 इसका तात्पर्य यह है कि  
 स्वाध्याय और प्रवचन ही तप हैं,  
 इसलिये वे ही अनुष्ठान किये जाने  
 योग्य हैं । पहले कहे हुए भी सत्य,  
 तप, स्वाध्याय और प्रवचनोंकर  
 पुनर्नैवमादरार्थम् किये हैं ॥१॥

इति श्रीश्यामक्यां भवमोऽमुवाच ॥ १ ॥

## दशम अनुवाक

त्रिंशद्ब्रह्म वेदानुबचन

अहं ब्रह्मस्य रेरिवेति स्वाध्या  
 मार्थी मन्त्राभ्याय । स्वाध्यायश्च  
 विद्योत्पद्ये । प्रकरणत् ।  
 विद्यार्थं हीदं प्रकरणम् । न  
 वान्यायस्वमवगन्मते । स्वाध्या  
 येन च विद्युद्दसत्त्वस्य विद्योत्प  
 पिरवकन्प्यते ।

‘अहं ब्रह्मस्य रेरिवा’ आदि  
 मन्त्राभ्याय स्वाध्याय ( जप ) के  
 लिये है । तथा स्वाध्याय विद्या  
 ( ज्ञान ) की उत्पत्तिके लिये बतलाया  
 गया है, यह प्रकरणसे ज्ञात होता  
 है; क्योंकि यह प्रकरण विद्यार्थके  
 लिये ही है, इसके सिवा उसका  
 कोई और प्रयोजन नहीं जान पड़ता;  
 क्योंकि स्वाध्यायके द्वारा जिसका  
 चित्त शुद्ध हो गया है उसीको  
 विद्याकी उत्पत्ति होना सम्भव है ।

अहं ब्रह्मस्य रेरिवा । कीर्तिं पृष्ठ गिरेरिव । ऊर्ध्व-  
 पवित्रो वाजिनीच स्वमृतमस्मि । द्रविणरसवर्चसम् ।  
 सुमेधा अमृतोक्षित । इति त्रिंशद्ब्रह्म वेदानुबचनम् ॥ १ ॥

मैं [ अन्तर्यामीरूपसे उच्छेदरूप संसार ] ब्रह्मका प्रेरक हूँ । मेरी  
 कीर्ति पर्वतशिखरके समान उच्च है । ऊर्ध्वपवित्र ( परमात्मारूप कारण-  
 वादा ) हूँ । अन्नान् सुपमे जिस प्रकार अप्रुत है उसी प्रकार मैं भी  
 शुद्ध अप्रुतमय हूँ । मैं प्रकाशमान [ आत्मतत्त्वरूप ] धन, सुमेधा  
 ( सुन्दर मेधावाला ) और अमरणधमा तथा अक्षित ( अम्यय ) हूँ,  
 अथवा अप्रुतसे सिद्ध ( भीष्म हुआ ) हूँ—यह त्रिंशद्ब्रह्म अरिवा वेदानुबचन  
 है ॥ १ ॥

अहं बृहत्सोऽच्छेदात्मकस्य  
संसारबृहत्स्य रेरिवा प्रेरयिता-  
ऽन्तर्याम्यात्मना । कीर्तिः रम्या-  
तिर्गिरेः पृष्ठमिबोऽपिष्टा मम ।  
ऊर्ध्वपवित्र ऊर्ध्व कारणं पवित्रं  
पावनं ज्ञानप्रकाशं पवित्र परम  
मम यस्य सर्वात्मनो मम सो  
ऽहमूर्ध्वपवित्रः । वाजिनीव वास-  
वतीव । वाजमन्नं तद्वति सवित  
रीत्यर्थः । यथा सवितर्यमृतमा-  
त्मतत्त्वं विद्मदं प्रसिद्धं सृति  
सृतिष्ठतेभ्य एवं स्मृतं शोमनं  
विद्मदमात्मतत्त्वमपि भवामि ।

द्रविणं घनं सवर्षसं दीप्ति-  
मत्तदेपात्मतत्त्वमस्मीत्यनुवर्षते ।

ब्रह्मज्ञानं वात्मतत्त्वप्रकाश  
कत्वास्तसवर्षसम् । द्रविणमिव

द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात् ।

असिन्वषे प्राप्तं मयेस्वप्नाहारः  
कर्तव्यः ।

मैं अन्तर्धर्मरूपसे बृहत् अर्थात्  
उच्छेदात्मक संसाररूप बृहत्का प्रेरक  
हूँ । मेरी कीर्ति—प्रसिद्धि पर्यन्तक  
पृष्ठभागके समान ऊँची है । मैं ऊर्ध्व-  
पवित्र हूँ—पवित्र—पावन अर्थात्  
ज्ञानसे प्रकाशित होने योग्य पवित्र  
परब्रह्म जिस मुझ सर्वात्मक  
ऊर्ध्व मानी कारण है वह  
मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ । 'वाजिनि  
इव'—वाजवान्के समान—वाज अर्थात्  
अन्न उससे मुझ सूर्यके समान,  
जिस प्रकार सैकड़ों सृति-सृतिपों-  
के अनुसार सूर्यमें विद्मद  
अमृत यानी आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है  
उसी प्रकार मैं भी सु अमृत अर्थात्  
शोमन—विद्मद आत्मतत्त्व हूँ ।

वही मैं आत्मतत्त्व सवर्षस—  
दीप्तिशाली द्रविण पानी धन हूँ—इस  
प्रकार वहाँ 'असि ( हूँ ), किया  
की अनुवृत्ति करी जाती है । अर्थात्  
आत्मतत्त्वका प्रकाशक होनेसे तेमकी  
ब्रह्मज्ञान, जो मोक्षसुखका हेतु होने-  
के कारण धनके समान धन है,  
[ मुझे प्राप्त हो गया है ]—इस  
प्रकार [ 'असि कियाकी अनुवृत्ति  
न करके ] 'मया प्राप्तम् ( यह  
मुझे प्राप्त हो गया है ) इत्यत्र  
अप्पाहार करना चाहिये ।

सुमेधा क्षोमना मेधा सर्व-  
 श्लक्ष्णया यत्न मम सोऽहं  
 सुमेधाः । संसारस्थित्युत्पत्त्युप  
 सहारक्षौष्ठयोगास्तुमेधस्त्वम् ।  
 अत एवासूतोऽमरणधर्माक्षितो  
 ऽधीणोऽध्वयः, अक्षतो वा; अमृतेन  
 योक्षितः सिक्तः । “अमृतोक्षितो  
 ऽहम्” इत्यादि ब्राह्मणम् ।

इत्येवं त्रिशङ्कोर्ध्वपेर्ब्रह्ममृतस्य  
 ब्रह्मविदो वेदानुवचनम्; वेदो  
 वेदनमात्मैकस्वविद्वानं तस्य  
 प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम् ।  
 आत्मनः कृतकृत्यतास्यापनार्थे  
 नामदेववत्त्रिशङ्कुनापेण दर्शनेन  
 ष्ट्यो मन्त्राज्ञाय आत्मविद्या-  
 प्रकाशक इत्यर्थः ।

अस्य च अपो विद्योत्पत्त्य  
 र्थोऽब्रह्मण्यते । अतं येत्यादि

सुमेधा—ब्रह्म मेरी मेधा शोमन  
 अर्थात् सर्वश्लक्ष्णवर्णवाली है वह  
 मैं सुमेधा हूँ । संसारकी स्थिति,  
 उत्पत्ति और संहार—इसका कौशल  
 होनेके कारण मेरा सुमेधस्त्व है ।  
 इसीसे मैं अमृत—अमरणधर्मा और  
 अक्षित—अधीण यानी अग्र्य अथवा  
 अक्षय हूँ । अपना, [ धृतीयात्पुरुष  
 सप्तस मन्नेपर ] अमृतेन उक्षित  
 अमृतसे सिक्त हूँ । “मैं अमृतसे  
 उक्षित हूँ” ऐसा ब्राह्मणवाक्य भी है ।

इस प्रकार यह ब्रह्ममृत ब्रह्मवेत्ता  
 त्रिशङ्कु अथवा वेदानुवचन है ।  
 वेद वेदन अर्थात् आत्मैकस्वविद्वान  
 को कहते हैं । उसकी प्राप्तिके अनु-  
 पीछेका वचन ‘वेदानुवचन’  
 कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि  
 अपनी कृतकृत्यता प्रकट करनेके  
 लिये नामदेवके समान० त्रिशङ्कु  
 अथवा अविशर व्यर्थदृष्टिसे देखा हुआ  
 यह मन्त्राज्ञाय आत्मविद्याक प्रकाश  
 करनेवाला है ।

इसका अप विद्याकी उत्पत्तिके  
 लिये माना जाता है । इस अर्थ

कर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानु  
वचनपाठादेतद्वगम्यत एवं  
श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु  
युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म  
विविदिपोरार्पाणि दर्शनानि प्रा-  
दुर्मवन्त्यास्मादिविषयापीति ॥ १ ॥

च' इत्यादि अनुष्ठानकर्मों धर्मक  
उपन्यास ( उल्लेख ) करनेके  
अनन्तर वेदानुवचनका पाठ करनेसे  
यह जाना जाता है कि इस प्रकार  
श्रौत और स्मार्त नित्यकर्मोंमें ब्रह्म  
हूए परब्रह्मके निष्काम विद्यासुके प्रति  
आत्मा आदिसे सम्बन्धित आर्पणदर्शनो-  
का प्रादुर्भाव हुआ करता है ॥ १ ॥

इति शौशावल्क्या ब्रह्मोऽनुवाकः ॥ १० ॥

## एकादश अनुवाक

वेदाभ्यन्यनके अनन्तर सिष्यको आचार्यका उपदेश

वेदमनूष्येत्येवमादिकर्तव्य

प्राग्ग्रहविद्यायां उपदेशारम्भः प्रा

ग्ग्रहविद्यायां गम्यविद्यानाभिय

मन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्त

कर्मणीत्येवमर्थः । अनुशासनश्रुतेः

पुरुषसंस्कारार्थत्वात् । संस्कृतस्य

हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमङ्ग-

सैवास्पद्यते । "तपसा कल्मषं

हन्ति विषयामृतमश्नुते" ( मनु०

१२ । १०४ ) इति स्मृति ।

वक्ष्यति च—“तपसा ब्रह्म विधि

ब्रह्मलोकनिश्चयसे पूर्व श्रौत

और स्मार्तकर्मोंका नियमसे अनुष्ठान

करना चाहिये—इसीलिये 'वेदम-

नूष्य' इत्यादि श्रुतिसे उनका

कर्तव्यताके उपदेशका आरम्भ किया

जाता है, क्योंकि [ 'अनुराधि'

ऐसी ] जो अनुशासन श्रुति है वह

पुरुषके संस्कारके लिये है, क्योंकि जो

पुरुष संस्कारयुक्त और विशुद्धचित्त

होता है उसे ब्रह्मज्ञान ही आत्मज्ञान

प्राप्त हो जाता है । इस सम्बन्धमें

'तपसे कल्मष नाश करता है और

ज्ञानसे ब्रह्मलोक प्राप्त करता है" ऐसी

स्मृति है । आगे ऐसा कहेंगे भी कि

शासस्व" ( तै० उ० ३।२।५ )

इति । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठे  
यानि कर्माणि । अनुशास्तीत्यनु  
शासनशब्दादनुशासनातिक्रमे हि  
दोषोत्पत्तिः ।

प्रागुपन्यासाच्च कर्मणाम् ।  
केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं  
कर्माण्युपन्यस्तानि । उदितायां  
च ब्रह्मविद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठं  
बिन्दते" ( तै० उ० २।७।१ )  
"न विभेति कुतश्चन" ( तै० उ०  
२।९।१ ) "किमहं साधुनाक-  
राम्" ( तै० उ० २।९।१ )  
इत्येवमादिना कर्मनैषिकान्य  
दर्शयिष्यति; इत्यथोऽवगम्यते  
पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण  
विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति ।  
मन्त्रवर्णाच्च— "अविद्यया मृत्युं  
सीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुत"  
( ई० उ० ११ ) इति । अथा

"तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर"  
अतः ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये कर्म  
करन चाहिये । 'अनुशास्ति' इसमें  
'अनुशासन'—ऐसा शब्द होमेक  
कारण उस अनुशासनका अति-  
क्रमण करनेपर दोषकी उत्पत्ति  
होगी ।

कर्मोंका उपन्यास पहले किया  
जानेके कारण भी [ यह निश्चय  
होता है कि ये कर्म विद्याकी उत्पत्ति-  
के लिये हैं ] । कर्मोंका उपन्यास  
केवल ब्रह्मविद्याका निरूपण  
आरम्भ करनेसे पूर्व ही किया  
गया है । ब्रह्मविद्याका उद्देश्य  
होनेपर तो "अभय प्रतिष्ठको प्राप्त  
कर लेता है" "किन्तीसे भी भय  
नहीं मानता" "मैंने कौन-सा भ्रम  
कर्म नहीं किया" इत्यादि वाक्योंद्वारा  
कर्मोंकी निष्किञ्चनता ही दिखल्यवेंगे ।  
इससे विदित होता है कि कर्म पूर्व-  
सञ्चित पापोंके क्षयक द्वारा ज्ञानकी  
प्राप्तिके लिये हैं । "अविद्या  
( कर्म ) से मृत्यु ( अधम ) को  
पार करके विद्या ( उपासना ) से  
अमरत्व प्राप्त करता है" इस मन्त्र  
वर्णने भी यही बात प्रमाणित होती  
है । अतः पहले ( मन्त्र अनुशासन )



दीनां पूर्वत्रोपदेश आनर्थक्य  
परिहारार्थः । इह तु ज्ञानोत्पत्त्य  
र्थात्कार्त्तव्यतानियमार्थः ।

नो अत्रादिका उपदेश किया है वह  
उनके आत्मपक्षकी निवृत्तिके लिये  
है । तथा यहाँ ज्ञानकी उत्पत्तिके  
वेद होनेसे उनकी कर्त्तव्यताका  
नियम करनेके लिये है ।

धेदमनूष्याचार्योऽन्तेषासिनमनुशास्ति । सत्य वद ।  
धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । आचार्याय प्रियं धन  
माहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः । सत्माञ्च प्रमदितव्यम् ।  
धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न  
प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो  
भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।  
यान्यनवधानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।  
मान्यस्माकस्मृचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥

नो इतराणि । ये के चास्मञ्छ्रेयारसो ब्राह्मणा ।  
तेषां त्वयासनेन प्रशसितव्यम् । अक्षया देयम् ।  
अन्नक्षयाऽदेयम् । त्रिया देयम् । द्विया देयम् । मिया  
देयम् । सखिदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा  
वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ॥ १ ॥

ये तत्र ब्राह्मणा समर्षिन् । युक्ता आयुक्ता ।  
अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा  
तत्र वर्तेयान् । ये तत्र ब्राह्मणा ।

संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः ।  
 यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेयाः । एष आवेशः ।  
 एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एष-  
 मुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वेदाध्ययन करनेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उपदेश देता है—  
 सत्य बोल । धर्मका आचरण कर । स्वाध्यायसे प्रमाद न कर । आचार्यके  
 किये अमीष्ट धन स्रक्कर [ उसकी आज्ञासे क्षीपरिग्रह कर और ] समान  
 परम्पराका छेदन न कर । सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । धर्मसे  
 प्रमाद नहीं करना चाहिये । कुशाळ ( आत्मरक्षार्थे उपयोगी ) कर्मसे  
 प्रमाद नहीं करना चाहिये । ऐश्वर्य देनेवाले मङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद  
 नहीं करना चाहिये । स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना  
 चाहिये ॥ १ ॥ देवकार्य और पितृकार्योंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये ।  
 द मातृदेव ( माता ही जिसका देव है ऐसा ) हो, पितृदेव हो, आचार्य  
 देव हो और अतिपितृदेव हो । जो अग्निष्वा कर्म हैं तन्हींका सेवन करना  
 चाहिये—दूसरोंका नहीं । हमारे ( हम गुरुजनके ) जो शुभ आचरण  
 हैं तुझे तन्हींकी उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥ दूसरे प्रकारके कर्मोंकी  
 नहीं । जो कोई [ आचार्यदि कर्मोंसे पुच्छ होनेके कारण ] हमारी अपेक्षा भी  
 श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनका आसनादिके द्वारा तुझे आसनासन ( धर्मप्रवर्णन )  
 करना चाहिये । अश्रापूर्वक देना चाहिये । अश्रापूर्वक नहीं देना चाहिये ।  
 अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये । अश्रापूर्वक देना चाहिये । मय आगत  
 हुए देना चाहिये । सवित्—मैत्री आदि कार्योंके निमित्तसे देना चाहिये ।  
 यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई सन्देह उपस्थित हो ॥ ३ ॥  
 या वहाँ जो विचारशील, कर्ममें निपुण, आयुष्ठ ( स्वेच्छसे कर्मराज्य ),  
 वरुष्ठ ( सरलमति ) एवं धर्माभिजायी ब्राह्मण हों, उस प्रसङ्गमें वे जैसा  
 व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर । इसी प्रकार त्रिनपर संशययुक्त दोन  
 अग्रस्थित किये गये हों उनके कियमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें

निपुण अथवा नापुण ( दूस्तोति प्रेरित न होकर स्वतः कर्मों परापूर्ण ),  
सुरक्षित और धर्ममिच्छायी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें वही वैसा  
ही करे। यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य है और  
[ ईश्वरकी ] आज्ञा है। इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये—ऐसा  
ही आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

वेदमनुष्याप्याप्याधार्योऽन्ते-

नरीणोरेवम धासिर्न शिष्यमनु

धर्ममिच्छन्तश्च छास्ति ग्रन्थग्रहणा-

दनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयती

त्यर्थः। अतोऽगम्यतेऽभीतवेदस्य

धर्ममिच्छासामकृत्वा गुरुकुलात्

समावर्तितम्यमिति । “पुत्रप्या

कर्माणि चारभेत्” इति स्मृतेश्च ।

कथमनुष्ठासतीत्याह—

सर्वं यद् यथाप्रमाणावगतं

शक्तम्यं तद्वद् । उद्वर्द्धं चर ।

धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं

सत्यादिविशेषनिर्देशात् । स्वा

वेदका अध्वयन करानेके

अनन्तर आचार्य अन्तेव्यसी-शिष्य

को उपदेश करता है। अर्थात् प्रश्न-

प्रश्नक पश्चात् अनुशासन करता

है—उसका अर्थ प्रश्न करता है।

इससे ज्ञात होता है कि वेदाध्ययन

कर चुकनेपर भी ब्राह्मणकीके बिना

धर्ममिच्छाता किये गुरुकुलसे समा-

वर्तन ( अपने बरकी ओर प्रत्या

गमन ) नहीं करना चाहिये।

“कर्मोक्त यथायत् ज्ञान प्राप्त करके

उसके अनुष्ठानकर आरम्भ करे” इस

स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है।

किन्तु प्रश्नर उपदेश करता है। सो

कतकते है—

सर्व बाह्य अर्थात् जो करने

योग्य बात प्रमाणसे जैसी जानी

गयी हो उसे उसी प्रकार करे।

इसी प्रकार धर्मका आचरण करे।

‘धर्म’ यह अनुष्ठान करनेयोग्य

कर्मोक्त सामान्यरूपसे शक्ति है।

क्योंकि सत्यादि विशेष धर्मोक्त तो

निर्देश कर ही दिया है। साध्याप

व्यायादध्ययनान्मा प्रमद प्रमादं  
 मा कर्षीः । आचार्यानाचार्यार्थं  
 प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दक्षा  
 विद्यानिष्कयार्थम्, आचार्येण  
 चानुष्ठातोऽनुरूपान्दारानाहृत्य  
 प्रजातन्तुं प्रवासन्तानं मा व्यय  
 ष्छेत्सीः । प्रजासन्ततेर्विच्छिन्नं  
 कर्तव्या । अनुस्पद्यमानेऽपि पुत्रे  
 पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ  
 यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ।  
 प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देश  
 सामर्थ्यात् । अन्यथा प्रजनमे  
 त्येवदेकमेवावस्यत् ।

सत्याभ प्रमदितन्व्यं प्रमादो  
 न कर्तव्य । सत्याच्च प्रमदनम  
 नृवप्रसङ्गः, प्रमादश्चब्दसामर्थ्यात् ।  
 विस्मृत्याप्यनृत न यक्तव्य  
 मित्यर्थः । अन्यथासत्यवदन  
 प्रतिषेध एव स्यात् । धर्माच्च

वर्षात् व्ययपनसे प्रमद न कर ।  
 आचार्यके लिये प्रिय-उमका समीप  
 घन छाकर वीर विद्यादानसे उद्धारण  
 होनेके लिये उन्हें देकर आचार्यके  
 आज्ञा देनेपर अपने अनुरूप चीसे  
 विवाह करके प्रजातन्तु-सन्तति  
 कर्मका छदन न कर । वर्षात्  
 प्रजासन्ततिक्रम विच्छेद नहीं करना  
 चाहिये । तत्पर्य यह है कि यदि  
 पुत्र उत्पन्न न हो तो भी पुत्र-काम्या  
 (पुत्रेष्टि) आदि कर्मोंद्वारा उसकी  
 उत्पत्तिके लिये यत्न करना ही  
 चाहिये । [नवम अनुशासने] प्रजा,  
 प्रजन वीर प्रजाति-सीमोहीकर  
 निर्देश किया गया है उसकी  
 सामर्थ्यसे यही बात सिद्ध होती है;  
 व्ययपा वहाँ केवल 'प्रजन' इस  
 एक ही साधनकर निर्देश किया  
 जाता ।

सत्यसे प्रमाद नहीं करना  
 चाहिये । सत्यसे प्रमादकर अमिप्राप  
 है असत्यकर प्रसङ्ग, यह प्रमदशब्द  
 के सामर्थ्यसे शोभित होता है । तत्पर्य  
 यह है कि कभी मूढकर भी असत्य-  
 भाषण नहीं करना चाहिये, यदि  
 ऐसा तात्पर्य न होता तो, वहाँ  
 केवल असत्यभाषणकर निर्देश ही  
 किया जाता । धर्मसे प्रमाद नहीं



→ प्राणि सावधानि शिष्ट  
 वपि । यान्यस्माकमावा  
 । सुचरितानि शोभनचरि  
 भासात्याद्यनिरुद्धानि तान्येव  
 पोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेय-  
 । नियमेन कर्तव्यानीति या-  
 त् ॥ २ ॥ नो इतरामि विपरी  
 तान्याचार्यकृतान्मपि ।

ये के च विद्येपिता आचार्य  
 स्वादिभर्तृसदस्यः भेषांसः  
 प्रशस्यसरास्ते च ब्राह्मणा न  
 क्षत्रियाद्यमस्तेषामासनेनासनदा  
 नादिना स्वया प्रशसितव्यम् ।  
 प्रशसनं प्रशस्य भ्रमापनय ।  
 तेषां भ्रमस्त्वयापनेतव्य इत्यर्थः ।  
 तेषां आसने शाष्ठीनिमित्ते सप्त  
 दिवसेषु न प्रशसितव्यं प्रश्ना  
 सोऽपि न कर्तव्यः कवलं तदुक्त  
 सारप्राहिणा भवितव्यम् ।

निश्चायुक्त कर्म—मझे ही वे शिष्ट  
 पुरुषोंके किये हुए हैं—तुझे नहीं  
 करने चाहिये । इन आचार्यज्योंके  
 भी जो सुचरित—शुभ चरित अपात्  
 शास्त्रसे अनिच्छ कर्म हैं उन्हींकी  
 तुझे उपासना करनी चाहिये, बहुत  
 फलके लिये उन्हींका अनुष्ठान करना  
 चाहिये अपात् तेरे लिये वे ही  
 नियमसे कर्तव्य हैं ॥ २ ॥—दूसरे  
 नहीं, अपात् उनसे विपरीत कर्म  
 आचार्यके किये हुए भी कर्तव्य  
 नहीं हैं ।

जो कोई भी आचार्यत्व आदि भक्तिके  
 कारण विशिष्ट हैं, अपात् हमसे श्रेष्ठ  
 बड़े हैं तथा वे ब्राह्मण भी हैं—क्षत्रिय  
 आदि नहीं हैं, उनका आसनादिके  
 द्वारा अपात् उन्हें आसनादि देकर  
 तुझे प्रशस्य—प्रशस्यका अर्थ है  
 आशसन यानी धमापहरण करना  
 चाहिये । तात्पर्य यह है कि तुझे  
 उनका धम निवृत्त करना चाहिये ।  
 तथा किसी ग्रेष्ठी ( समा ) के लिये  
 उन्हें उपासन प्राप्त होनेपर तुझे  
 प्रशस्य—दीर्घनि आस भी नहीं  
 छाड़ना चाहिये, तुझे केवल उनके  
 कथनका सार ग्रहण करनेवाला  
 भक्त चाहिये ।

किं च यत्किंचिदेव तच्छूद्र  
यैव दातव्यम् । अभद्रया अदेयं न  
दातव्यम् । भिया विभूत्या देव  
दातव्यम् । द्रिया लज्जया च  
देयम् । मिया मीत्या च देयम् ।  
संविदा च मैत्र्यादिकार्येण  
देयम् ।

अधैवं वर्तमानस्य यदि कदा  
चिच्छे तव भौते सार्ते वा कर्मणि  
वृत्ते वापारलक्षणे विचिक्रिस्ता  
संशयः स्यात् ॥३॥ ये तत्र तस्मिन्  
देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मा-  
दौ युक्ता इति व्यवहितेन सबन्धः  
कर्तव्यः । समर्शिनो विचार  
धमाः । युक्ता अमियुक्ताः कर्मणि  
वृत्ते वा । आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः ।  
अकृष्या अरुष्या अकूरमतयः ।  
धर्मकामा अदृष्टाभिनोऽकामइता  
इत्येतत्, स्युर्मयैपुः । ते यथा येन  
प्रकारेण ब्राह्मणान्तरं तस्मिन्क-

इसके सिवा वृत्ते जो कुछ दान  
करना हो वह अदासे ही देना  
चाहिये, अभद्रासे नहीं । धी  
अर्थात् विभूतिके अनुसार देना  
चाहिये, ही-छापूर्वक देना  
चाहिये, मी-मय मानते हुए  
देना चाहिये तथा संविद् यामी  
मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना  
चाहिये ।

निर इस प्रकार बतते हुए वृत्ते  
यदि किसी समय किसी श्रौत या  
स्मार्त कर्म अपना आचरणरूप  
वृत्त ( व्यवहार ) में संशय उपस्थित  
हो ॥ ३ ॥ तो वहाँ उस देश  
या कालमें जो ब्राह्मण नियुक्त  
हों-इस प्रकार 'तत्र' इस पदका  
'युक्त' इस व्यवधानयुक्त पदसे  
सम्बन्ध करना चाहिये-[ और जो ]  
समर्शा-विचाररूप, युक्त-कर्म  
अपना आचरणमें पूर्णतया उत्तर,  
आयुक्त-किसी दूसरेसे प्रयुक्त न  
हानेकाले [ अर्थात् स्नेह्यासे प्रवृत्त ],  
अकृष्य-अरुष्य अर्थात् अकूरमति  
( सरकचित ) और धर्मकामी-  
अदृष्टाभिनो इत्याकाले अर्थात्  
कामनावश विवेकशून्य न हों, वे  
ब्राह्मण उस कर्म या आचरणमें जिस

मीषि वृत्ते वा धर्तेरस्तथा स्वमपि  
वर्तेथा । अथाम्याख्यातेषु,  
अभ्यास्याता अम्युक्ता दोषेण  
संदिग्धानेन संयोजिताः केन  
चित्तेषु च यथोक्तं सर्वेषुपन-  
येद्ये तत्रेत्यादि ।

एष आदेशो विधि । एष  
उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादी  
नाम् । एषा वेदोपनिषद्वेदरहस्यं  
वेदार्थ इत्येतत् । एतद्बानुशा-  
सनमीश्वरबचनम् । आदेश  
वाक्यस्य विवेकत्वात्सर्वेषां वा  
प्रमाणभूतानामशासनमेतत् ।  
यस्मादेवं तस्मादेव यथोक्तं सर्व  
मुपासितव्यं कर्तव्यम् । एषु  
चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपा-  
स्यमित्यादरार्थं पुनर्बचनम् ॥४॥

प्रकार वर्ताने करें उसी प्रकार तुम  
मी कर्ताने करना चाहिये । इसी  
प्रकार अभ्यास्यातोके प्रति-  
अभ्यास्यात—अम्युक्त अर्थात् विन  
पर कोई संशययुक्त दोष आरोपित  
किया गया हो उनको प्रति जैसा  
पहले 'ये तत्र' इत्यादिसे कहा गया  
है उसी सब मन्त्रशारक प्रयोग  
करना चाहिये ।

एह आदेश अर्थात् विधि है,  
एह पुत्रादिको पिता आदिकर उपदेश  
है यह वेदोपनिषद्—वेदकर रहस्य  
वर्नी वेदार्थ है । यही अनुशासन  
यानी ईश्वरकर वाक्य है । अथवा  
आदेशवाक्य विधि है—ऐसा पहले  
कहा जा चुका है, इसलिये यह  
सभी प्रमाणभूत [ उपदेशको ] का  
अनुशासन है । क्योंकि ऐसा  
है इसलिये पहले जो कुछ  
कहा गया है वह सब इसी  
प्रकार उपासनीय—करने योग्य है ।  
इस प्रकार ही इसको उपासना  
करनी चाहिये—यह उपासनीय ही  
है अनुपास्य नहीं है—इस प्रकार  
यह पुनरुक्ति उपासनाके आश्रयके  
लिये है ॥ ४ ॥



मोक्ष साधनकी मीमांसा

अत्रैतद्विन्त्यते विद्याकर्मणो-  
मोक्षसाधन- विवेकार्थं किं कर्म-  
योगसाधनं एव क्वलेभ्यः  
कल्पते निश्चयः परं भेष उत वि-  
द्यासम्पत्तेभ्य आहोश्चिद्विद्या-  
कर्मिणां संहिताम्यां विद्याया वा  
कर्मपिशाया उत केषलाया एव  
विद्याया इति ?

तत्र क्वलेभ्य एव कर्मिभ्यः  
कर्मणो मोक्ष- स्वात् । समस्तवे  
मोक्षसाधनमित्यतः दार्ढ्यज्ञानवतः कर्मा-  
धिकारात् । “विदः कृत्स्नोऽधि-  
गन्तव्य सरइसा द्विजमना”  
इति सरणात् । अधिगमश्च  
सदापनिषदर्थेनारमणानादिना ।  
“विद्वान्मवते” “विद्वान्वाज-  
यति” इति च विदुष एव कर्म-  
प्यधिकारः प्रदश्यते सर्वत्र  
“शास्त्रा वापुष्ठान” इति च ।

अब विद्या और कर्मका विवेक  
[ अर्थात् इन दोनोंका फल भिन्-  
भिन्न है—इसका निश्चय ] करनेके  
लिये यह विचार किया जाता है  
कि क्या परम योग्यता प्राप्ति ( १ )  
केवल कर्मसे होती है, ( २ ) अथवा  
विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे, ( ३ )  
किंवा परस्पर मिले हुए विद्या और  
कर्म दोनोंसे, ( ४ ) अथवा कर्मकी  
अपेक्षा रखनेवाली विद्यासे, ( ५ )  
या केवल विद्यासे ही ?

उनमें [ पहला पक्ष यह है कि ]  
केवल कर्मसे ही परम योग्यता प्राप्ति  
हो सकती है; क्योंकि “द्विजातिके  
रहस्यके संहित सम्पूर्ण वेदका ज्ञान  
प्राप्त करना चाहिये” ऐसी स्पृति  
होनेसे सम्पूर्ण वेदका ज्ञान रखने  
वालेको ही कर्मका अधिकार है और  
वेदका ज्ञान उपनिषदके अर्पणत  
आत्मज्ञानादिके संहित ही हो  
सकता है । “विद्वान् यह करता  
है”, “विद्वान् यह करता है”  
इत्यादि वाक्योंसे सर्वत्र विद्वान्का ही  
कर्मसे अधिकार दिखाया गया  
है; तथा “जानकर कर्मनुष्ठान  
करे” वसा भी कहा है । कोई-कोई

य वेदः कर्मार्थ इति हि  
 न्ते केचित् । कर्मम्यभेत्परं  
 । नावाप्यते वेदोऽनर्थकः  
 १ ।

न; नित्यत्वान्मोक्षस्य, नित्यो  
 मोक्ष इष्यते । कर्मकार्य  
 ाभित्पत्त्वं प्रसिद्धं लोके ।  
 र्मम्यभेच्छ्रेयो नित्यं स्वात्तया  
 नेष्टम् । “तद्यथेह कर्मचितो  
 लोकः क्षीयते” ( छा० उ० ८ ।  
 १ । ६ ) इति न्यायानुगृहीत-  
 भ्रुतिविरोधात् ।

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भा  
 दात्म्यस्य च कर्मण उपमोगन  
 क्षयाभित्पानुष्ठानाच्च तत्रप्रत्यवा-  
 यानुत्पत्तेर्ज्ञाननिरपेक्ष एव मोक्ष  
 इति चेत् ?

तत्र न; श्रेयकर्मसंभवापत्ति-  
 मिच्छरीरान्त्वत्तेस्पत्तिः चाप्या

ऐसा भी मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद  
 कर्मके ही लिये है, और यदि कर्मों  
 ही परम श्रेयकी प्राप्ति न हुई तो  
 वेद भी व्यर्थ ही हो जायगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक  
 नहीं, क्योंकि मोक्ष नित्य है—  
 मोक्ष नित्य ही माना गया है । और  
 जो वस्तु कर्मका फल है उसकी  
 अनित्यता श्रेयके प्रतिषिद्ध है । यदि  
 नित्य श्रेय कर्ममि होता है ऐसा  
 मानें तो यह नहीं है; क्योंकि इसका  
 “बिना प्रकार यह कर्मोपाहित लोक  
 क्षीण होता है [ उसी प्रकार पुण्याहित  
 परलोक भी क्षीण हो जाता है ]”  
 इस न्यायपुच्छ श्रुतिसे विरोध है ।

एवम—काम्य और प्रतिषिद्ध  
 कर्मोंका आरम्भ न करनेसे, प्रारम्भ  
 कर्मोंका भोगसे ही क्षय हो जानेसे  
 तथा नित्य कर्मोंके अनुष्ठानके कारण  
 प्राप्तवाक्यकी उत्पत्ति न होनेसे मोक्ष  
 ज्ञानकी अपेक्षासे रहित ही है—यदि  
 ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात भी नहीं  
 है; वेद ( सञ्चित ) कर्मोंके रह  
 जानेसे उनके कारण क्षय शरीरकी  
 उत्पत्ति स्थित होती है...

तीति प्रत्युत्तम् । कर्मशेषस्य च  
नित्यानुष्ठानेनाविराधात्क्षयानुप  
पचिरिति च ।

यदुक्तं समस्तवेदार्थज्ञानधतः

कर्माधिकारात्त्यादि, तच्च न,  
श्रुतज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य ।  
श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मव्यधि-  
क्रियते नापासनामपेक्षते । उपा-  
सनं च श्रुतज्ञानादर्धान्तरं वि-  
धीयते । मोक्षफलमर्धान्तरप्रसिद्धं  
च स्यात् । 'श्रोतव्यः' इत्युक्त्वा  
तद्व्यतिरेकेण 'मन्तव्यो निदि-  
ष्यासितव्यः' इति मन्तान्तरवि-  
धानात् । मन्तनिदिष्यासनयोश्च  
प्रसिद्धं भवत्यज्ञानादर्धान्तरत्वम् ।

एवं तर्हि विधान

श्रुतज्ञानतुल्य-कर्मज्ञाने

मन्त श्रोतव्य

मन्तनिदिष्य

इम इत्यत्र पहले ही सुखन च  
शुके हैं; तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठान  
सहित कर्मोंका विरोध न होनेके दस्त  
उनका क्षय होना सम्भव नहीं है।

और यह जो कहा कि समस्त  
वेदके अर्थको जाननेवालेको ही  
कर्मका अधिकार होनेके कारण  
[ केवल कर्मसे ही नि श्रेयसकी प्राप्ति  
हो सकती है ] सा भी ठीक नहीं,  
क्योंकि उपासना श्रुतज्ञान ( गुरु-  
कुलमें किये हुए वाक्यविचार ) से  
भिन्न ही है । मनुष्य श्रुतज्ञानमात्रसे  
ही कर्मका अधिकारी हो जाता है,  
इसके लिये वह उपासनाकी अपेक्षा  
नहीं रखता । उपासना तो श्रुतज्ञान  
से भिन्न वस्तु ही कल्पनी गयी है ।  
यह उपासना मोक्षरूप फलवाची  
और अर्धान्तररूपसे प्रसिद्ध है,  
क्योंकि 'श्रोतव्य' ऐसा कहाकर  
[ मन्त और निदिष्यासनके लिये ]  
'मन्तव्यो निदिष्यासितव्य' - इस  
प्रकार पृथक् फलान्तरका विधान  
किया है । अर्थको भी अक्षयज्ञानसे  
मन्त और निदिष्यासनका अर्धान्त  
रूप

तो १५

न्तरारम्भसामर्थ्यम् । यथा स्त्रो  
मरणञ्चरादिकार्यारम्भसमर्पणा  
मपि विषदध्यादीनां मन्त्रशुक्ल-  
गदिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भ  
सामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः  
कर्ममिर्मोक्ष आरम्यत इति चेत् ?

न; आरम्यस्यानित्यत्वादि-

स्युक्तो दोष ।

वचनानुदात्त्याऽपि नित्य

श्चेति चेत् ?

न, ज्ञापकत्वाद्बचनस्य ।

वचनं नाम यथामृतस्यार्थस्य

ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तुं । न

हि वचनश्रुतेनापि नित्यमारम्यत

आरम्भं वाविनाशि भवेत् ।

एतेन विद्याकर्मणोः संवत्

योर्मोक्षारम्भकर्तृत्वं प्रत्युक्तम् ।

आरम्भक सामर्थ्यं हो सकता है,  
जिस प्रकार कि त्वयं मरण और  
ज्वरदि कार्योके आरम्भमें समर्थ  
होनेपर भी विष एवं दधि आदिमें  
मन्त्र और शर्करादिसे युक्त होनेपर  
कार्यान्तरके आरम्भक सामर्थ्य हो  
जाता है, इसी प्रकार विद्यासहित  
कर्मोसे मोक्षक आरम्भ हो सकता  
है—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धांती—नहीं, जो वस्तु  
आरम्भ होनेवाली होती है वह  
अनित्य हुआ करती है—इस प्रकार इस  
वस्तुका दोष बतलाना या युक्त है ।

एवं—किन्तु [ 'न स पुनरा-  
वर्तते' इत्यादि ] वचनसे तो आरम्भ  
होनेवाला मोक्ष भी नित्य ही होता है ?

सिद्धांती—नहीं, क्योंकि वचन  
तो केवल ज्ञापक है, यथार्थ अफको  
बतलानेवालेका ही नाम 'वचन' है ।  
वह किसी अविद्यमान पदार्थको  
उपलब्ध करनेवाला नहीं होता ।  
ऐक्यों वचन होनेपर भी नित्य  
वस्तुका आरम्भ नहीं किया जा  
सकता और न आरम्भ होनेवाली वस्तु  
अविनाशी ही हो सकती है । इससे  
समुच्चिन विद्या और कर्मके मोक्षारम्भ-  
कत्वाका प्रतिशेध कर दिया गया ।

विद्याकर्मणी मोक्षप्रतिबन्ध

हेतुनिवर्तके इति चेत्—न, कर्मणः

फलान्तरदर्शनात् । उत्पत्तिस-

स्कारविकारास्यो हि फलं

कर्मणो दृश्यते । उत्पत्त्यादिफल

विपरीतञ्च मोक्षः ।

गतिभूतेराप्य इति चेत् ।

“सूर्यद्वारण”, “तयोर्धमायन्”  
( क० उ० २ । ३ । १६ ) इत्ये  
वमादिगतिभूतिभ्यः प्राप्या मोक्ष  
इति चेत् ।

न; सर्वगतत्वाद्गन्तृमिथा  
नन्यत्वादाकाशदिक्कारणत्वात्स  
र्वगतं ब्रह्म । ब्रह्माभ्यतिरिक्ताद्य  
सर्वे विद्वानात्मानः । अथा ना-  
प्यो मोक्षः । गन्तुरन्यद्विमिन्नं  
दर्शनं प्रति भवति गन्तव्यम् । न  
हि येनैवाभ्यतिरिक्तं यत्तत्तनैव

विद्या और कर्म—ये दोनों मोक्षके  
प्रतिकन्धके हेतुओंको निवृत्त करने  
वाले हैं [ मोक्षके स्वरूपको उपलभ  
करनेवाले नहीं हैं; बल्कि जिस  
प्रकार प्रथमसामान्य वृत्तक होनेपर  
भी नित्य है उसी प्रकार उभ प्रति-  
कन्धोंकी निवृत्ति भी नित्य ही होगी ]  
—यदि ऐसा कहा तो यह कथन  
ठीक नहीं क्योंकि कर्मोंका तो  
अप्य ही फल देख्य गय है । उत्पत्ति,  
संस्कार, विकार और व्यति—ये  
कर्मके फल देखे गये हैं । किन्तु  
मोक्ष उत्पत्ति आदि फलसे विपरीत है ।

पूर्व—गतिप्रतिपादिकां धृतियों  
से तो मोक्ष अप्य सिद्ध होता  
है तथा “सूर्यशमसे”, “उस सुपुत्रा  
माहीशरा उर्ध्वलोकको जानेवाला”  
आदि गतिप्रतिपादिकां धृतियोंसे  
जाना जाता है कि मोक्ष प्राप्य है ।

सिद्धागती—ऐसी बात नहीं है,  
क्योंकि ब्रह्म सर्वगत, गमन करने  
वालेसे अभिन्न और आकाशशास्त्रि  
का भी कारण होनेसे सर्वगत  
है तथा सम्पूर्ण विद्वान्ब्रह्म ब्रह्मसे  
अभिन्न हैं इसलिये मोक्ष अप्य  
नहीं है । गमन करनेवालेसे पृथक्  
अन्य वेदाने ही गमन करने योग्य हुआ  
करता है । जो जिससे अभि

यस्यते । तदनन्यत्वप्रसिद्धे च  
 “तत्सुप्ता तदेवानुप्राविशत्”  
 (श्री० उ० २ । ६ । १) “क्षेत्रं  
 चापि मां विद्धि” (गीता १३ । २)  
 इत्येवमादिभ्रुतिस्मृतिप्रसंगेभ्यः ।

गत्सैवर्षादिभ्रुतिविरोध इति  
 चेत् । अद्यापि साद्यद्यप्राप्यो  
 मोक्षस्तदा गतिभ्रुतीनां “स  
 एकस्या” (छा० उ० ७ । २६ । २)  
 “स यदि पिष्टलोककर्मो यवति”  
 (छा० उ० ८ । २ । १) “स्त्री  
 भिर्वा यानैर्वा” (छा० उ० ८ ।  
 १२ । ३) इत्यादिभ्रुतीनां च  
 क्षेत्रेण सादिति चेत् ।

न; कार्यब्रह्मविषयत्वात्तात्प-  
 त्ताम् । कार्ये हि ब्रह्मणि स्था-  
 दयः स्युर्न कारणे । “एकमेवा  
 द्वितीयम्” (छा० उ० ६ । २ ।  
 १) “यत्र नान्यत्पश्यति”  
 (छा० उ० ७ । २४ । १)  
 “तत्केन कं पश्येत्” (सू० उ०  
 २ । ४ । १४; ४ । ५ । १५)  
 इत्यादिभ्रुतिभ्यः ।

है उसीसे वह गन्तव्य नहीं होता ।  
 और उसकी अनन्यता तो “स्वतो  
 रचकर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया”  
 “सम्पूर्ण क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ भी व मुक्तके  
 ही जान” इत्यादि शैक्यों भ्रुति-  
 स्मृतियोंसे सिद्ध होती है ।

पूर्व०—[ ऐसा माननेसे तो ]  
 गति और ऐश्वर्यकर प्रतिपादन करने-  
 वाली भ्रुतियोंसे निराप भोग—बन्ध,  
 यदि मोक्ष अप्राप्य ही हो तो भी  
 गतिभ्रुति तथा “वह एकरूप होता है”  
 “वह यदि विद्वेषकेवरी इन्द्रावात्म  
 होता है” “वह ही और पानके  
 साथ रमण करता है” इत्यादि  
 भ्रुतियोंकर व्याकरोप (बाध) हो  
 जायगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वे तो  
 कार्य ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं ।  
 ही आदि तो कार्य ब्रह्ममें ही हो  
 सकती हैं, कारण ब्रह्ममें नहीं देख  
 कि “एक ही अद्वितीय ब्रह्म”, “जहाँ  
 कोई और नहीं देखता”, “एक  
 किस्सेके द्वारा किसे देखे” इत्यादि  
 भ्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

विरोधाच्च विद्याकर्मणोः सद्य  
 ष्व्यानुपपत्तिः । प्रविलीनकर्त्रा-  
 दिकारकविशेषतश्चविषया हि  
 विद्या तद्विपरीतकारकसाध्येन  
 कर्मणा विरुध्यते न ह्येकं वस्तु  
 परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवच्छृ-  
 न्यं चेत्युभयया द्रष्टुं शक्यते ।  
 अवश्यं अन्तरनिष्पन्ना स्यात् ।  
 अन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे  
 युक्तं यत्स्वाभाविकाज्ञानविषयस्य  
 द्वैतस्य मिथ्यात्वम् । “यत्र हि  
 द्वैतमिव भवति” ( सू० उ० २ ।  
 ४ । १४ ) “मृत्योः स मृत्यु  
 माम्नाति” ( क० उ० २ । १ ।  
 १०, सू० उ० ४ । ४ । १९ )  
 “अथ यत्रान्यत्पश्यति  
 तदस्यम्” ( छा० उ० ७ । २४ । १ )  
 “अन्योऽसावन्योऽहमसि” ( सू०  
 उ० १ । ४ । १० ) “उदरमन्तर  
 कुरुते अथ तस्य भय भवति”  
 ( तै० उ० २ । ७ । १ ) इत्यादि  
 श्रुतिश्रुतेभ्यः ।

इसके सिद्ध किया और कर्मका  
 विरोध होनेके कारण भी उनका  
 समुच्चय नहीं हो सकता । जिसमें  
 कर्ता-करण आदि कारकविशेषोंका  
 पूर्णतया लय होता है उस तत्त्वको  
 ( ब्रह्मको ) विषय करनेवाली विद्या  
 अपनेसे विपरीत साधनसाध्य कर्मसे  
 भिन्न है । एक ही वस्तु परमार्थत  
 कर्ता आदि विशेषसे युक्त और उस-  
 से रक्षित-दोनों ही प्रकारसे नहीं  
 देखी जा सकती । उनमेंसे एक  
 पक्ष कल्प मिथ्या होगा यदिये ।  
 इस प्रकार किसी एकके मिथ्यात्वका  
 प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर जो सम्भव-  
 से ही अज्ञानका विषय है उस  
 द्वैतका ही मिथ्या होगा उचित है,  
 जैसा कि “जहाँ द्वैतक समान द्वैत  
 है”, “जहाँ मृत्युसे मृत्युको प्राप्त द्वैत  
 है”, “जहाँ अन्य देखता है वह अन्य  
 है”, “वह अन्य है मैं अन्य हूँ”, “जो  
 पोडा-सा भी अन्तर करता है उसे  
 भय प्राप्त होता है” इत्यादि श्रुतियों  
 श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

सत्यत्वं चैकत्वस्य "एकै-  
वानुद्गृह्यम्" ( बृ० उ० ४ ।  
४ । २० ) "एकमेवाद्वितीयम्"  
( छा० उ० ६ । २ । १ ) "प्रद्वै  
वेदसर्वम्" ( मु० उ० २ । २  
११ ) "आत्मवेदसर्वम्"  
( छा० उ० ७ । २५ । २ )  
इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च सुप्रदा  
नादिकारकमेदादर्शने कर्मोप  
पद्यते । अन्यत्वदशनापवादश्च  
त्रियादिपये सदस्यः भूयते ।  
अतो विरोधा त्रियाकर्मणाः ।  
अतश्च समुपपानुपपत्ति । सत्र  
यदुक्तं संहिताभ्यां त्रियाकर्मभ्यां  
मोक्ष इति, अनुपपन्न सत् ।

विदितत्वात्कर्मणां श्रुतिवि  
रोध इति चेत् । यद्युपपद्य कत्रा  
दिकारकविशेषमात्मैक्यविज्ञानं  
विधीयते तथादिभ्रान्तिविज्ञाना  
वमर्दकरज्जादिविषयविज्ञानर  
त्यात् कर्मविधिभूर्त्तानां निर्विष

तया "एक रूपसे ही ऐक्य  
पाहिये" "एक ही अद्वितीय", "एक  
सब तब ही है", "एक सब आत्मा  
ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे एकत्वकी  
सत्यता सिद्ध होती है । सम्प्रदान  
आदि करकमेदके दिखायी न देने  
पर कम होना सम्भव भी नहीं है ।  
ज्ञानके प्रसंगमें भेदद्वयिक व्यपवाद  
तो सहस्रों सुननेमें आते हैं । उन  
विषय और कर्मका विरोध है, इस  
स्थित्ये भी उनका समुपपन्न होना  
असम्भव है । ऐसी दशामें पूर्वमें  
सुनने जो कहा या कि परस्पर  
मिले हुए विषय और कम दोनोंसे  
मोक्ष होता है" यह सिद्ध नहीं होता ।

पूर्व०—कर्म भी श्रुतिविहित है,  
अतः ऐसा करनेपर श्रुतिमें विरोध  
उपस्थित होता है । यदि सर्गादि  
भ्रान्तिजनित ज्ञानका बाध करनेवाले  
रज्जु आदि विषयक ज्ञानके समान  
कर्म आदि करकविशेषका रूप  
रूपक ही भाग्यवत्के ज्ञानका  
विधान किया जाता है तो कोई  
विषय न रहनेके कारण कमका  
विधान करनेवाली श्रुतियोंका उक्त



यस्वाहिराव । विहितानि च  
कर्माणि । स च विरोधो न  
युक्तः प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति  
चेत् ?

न; पुरुषार्थोपदेशपरत्वान्श्रुती-  
नाम् । विद्यापदेशपरा तावच्छ्रुतिः  
संसारत्युरूपो मोक्षपितृभ्य इति  
संसारहेतारविद्याया विद्याया  
निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाश  
करत्वेन प्रवृत्ति न विरोधः ।

एवमपि कर्त्रादिकारकसङ्काश  
प्रतिपादनपरं शास्त्र विरुध्यत  
एवेति चेत् ?

न; यथाप्राप्तमत्र कारकान्ति  
स्वमुपादात्पापात्तदुरितव्ययार्थं  
कर्माणि विदधच्छास्त्रं सुमुमुक्षां

( विद्याकर विधान करनेवाली  
श्रुतियों ) से विरोध उपस्थित होता  
है; और कर्त्तोंकर विधान भी  
किया ही गया है तथा सभी श्रुतियों  
प्रमाणमूल हैं इसलिये पूर्वोक्त  
विरोधकर होना उचित नहीं है—यदि  
ऐसा कहें तो ?

सिद्धान्ती—यह कल्पन ठीक नहीं;  
क्योंकि श्रुतिर्षो परम पुरुषार्थकर  
उपदेश करनेमें प्रवृत्त हैं । श्रुति  
ज्ञानकर उपदेश करनेमें तत्पर हैं ।  
उसे संसारसे पुरुषकर मोक्ष कराना  
है, इसके लिये संसारकी हेतुमूल  
अविद्याकी विद्याके द्वारा निवृत्ति  
करना आवश्यक है; अतः यह  
विद्याकर प्रकाश करनेवाली होकर  
प्रवृत्त हुई है । इसलिये ऐसा  
माननेसे कोई विरोध नहीं आता ।

पूर्व०—नित्य ऐसा माननेपर भी  
तो कर्त्तानि करवली सत्ताकर प्रति-  
पादन करमशाने शास्त्रकर तो उसमें  
विरोध जाता ही है ?

सिद्धान्ती ऐसी बात नहीं है;  
सम्भावतः प्राप्त करपरके अस्तिप्रवृत्ते  
स्वीकार कर सशिव प्रयोगके क्षयके  
लिये परमोंकर विधान करनेवाली  
शास्त्र मुमुक्षुओं और पत्नकी

फलार्थिनां च फलसाधनं न  
कारकास्तित्थे व्याप्रियते । उप  
चित्तदुरितप्रतिषेधस्य हि विद्यो  
स्पष्टिनात्कस्यते । उत्सृपे च  
विद्योत्पत्तिं स्यात्तथाविधानि  
श्रुतिस्तत्र आत्यन्तिक संसारो  
परम ।

अपि ज्ञानात्मदर्शिना ज्ञाना-  
कारकेण च त्मविषय कामः ।  
वेत्तव्यं च कामयमानस्य करो  
ति कामाणि । तद्वत्सकृत्तपो  
मागाय शरीरायुपादानलक्षणः  
संसारः । तदुच्यते रज्ज्वात्मैक  
न्दर्शिना विषयामावात्कामानु  
स्यत्तिरात्मनि ज्ञानन्यस्वास्त्वा-  
मानुष्यस्यैव्यात्मयवम्पान माय  
इत्यनापि रिचाकृत्वा विराध ।

इन्द्रियासौकी [ उनके इन्द्र ] फलकी  
प्राप्ति करानेका साधन है; वह  
करकोंकर अस्तित्व सिद्ध करनेमें  
प्रवृत्त नहीं है । जिस पुरुषका  
सहित फलकाय प्रतिकम्ब विद्यमान  
रहता है उसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं  
हो सकती; उसका क्षय हो जानपर  
ही ज्ञान होगा है और तभी  
अविद्याकी निवृत्ति होती है तथा  
उसके अनन्तर ही संसारकी  
अत्यन्तिक उपरति होती है ।

इसके सिवा जो पुरुष ज्ञानात्म-  
दर्शी है उसे ही ज्ञानात्मवस्तु-  
सम्बन्धिनी करमना हो सकती है;  
करमनाभाव ही कर्म परता  
है और उसीसे उनका फल भोगनेके  
द्विये उसे शरीरादिप्रदहनकय संसार  
की प्राप्ति होती है । इसके विरतीत  
जो आधीक्यदर्शी है उसकी दृष्टिये  
विरपेक्ष अभाव ज्ञानक कारण उसे  
उनकी करमना भी नहीं हो सकती ।  
जानमा तो करनेमें अभिन्न है, इस-  
द्विये उसकी करमना भी असम्भव  
ज्ञानके कारण उसे सामान्यरूपमें  
स्थित होनाच्य माध सिद्ध ही है ।  
इसद्विये भी ज्ञान और करमना स्थित

विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति  
न कर्माप्यपेक्षते ।

स्वात्मलामे तु पूर्वोपचित  
प्रतिबन्धापनयद्वारेण विद्याहेतुत्वं  
प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानीति ।  
अत एवाग्निप्रकरण उपन्य  
स्थानि कर्माणीत्यबोधाम । एवं  
चाविरोधः कर्मविधिभ्रुतीनाम्  
अतः केवलाया एव विद्यायाः  
परं भ्ये इति सिद्धम् ।

एवं तर्कान्प्रमान्तरानुपपत्तिः ।  
कर्मनिमित्तत्वादिद्योत्पत्तेः । गा  
ईस्प्ये च विहितानि कर्माणी  
स्यैकाग्रम्यमेव । अतश्च यावन्जी  
वादिभ्रुतयाऽनुकूलतराः ।

न, कर्मानिकृत्वात् । न ह्य  
चावत्प्रपत्तिनि मिहोत्रादीन्येव क-  
र्माणि मायि । ब्रह्मचर्यं  
वपः सत्यवदनं श्रमा इमोऽर्हसे-

है और विरोध होनेके कारण ही ज्ञान  
मोक्षके प्रति कर्मकी अपेक्षा नहीं  
रहता ।

हाँ, आत्मरूपमें पूर्वउचित  
पापरूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा  
मित्यकर्म ज्ञानप्राप्तिके हेतु अवश्य  
होते हैं । इसीलिये इस प्रकारमें  
कर्मोंका उल्लेख किया गया है—यह  
हम पहले ही कहा चुके हैं । इस  
प्रकार भी कर्मका विधान करनेवाली  
श्रुतिप्रयोग [ निषाविषाग्नी श्रुतियों  
से ] विरोध नहीं है । वत यह  
सिद्ध हुआ कि केवल विद्यासे ही  
परमभेदकी प्राप्ति होती है ।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तब  
तो [ गृहस्थाश्रमके सिद्ध ] अन्य  
आश्रमोंका होना भी उपपन्न नहीं  
है; क्योंकि विद्याकी उत्पत्ति तो  
कर्मके निमित्तसे होती है और कर्मों-  
का विधान केवल गृहस्थके ही लिये  
किया गया है; अतः इससे एकश्रमत्व-  
की ही सिद्धि होती है । और इसलिये  
'भ्यवर्जीवन आग्निहोत्र करो' इत्यादि  
श्रुतियों और भी अनुकूल टहरती हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है;  
क्योंकि कर्म तो अनेक हैं । केवल  
अग्निहोत्र आदि ही कर्म नहीं हैं ।  
ब्रह्मचर्य, तप, सत्यम्यगम, धाम,  
दम और वहिसा आदि अन्य कर्म

त्वेव्यदानीन्वपि कर्माणीतराभ्रम-  
प्रसिद्धानि विद्योत्पत्तौ साधक-  
ब्रह्मायसंकीर्णत्वादिद्यन्तं ध्यान  
धारणादिलक्षणाणि च । वक्ष्यति  
च—“तपसा ब्रह्म विद्विद्ब्राह्मणम्”  
( शै० उ० ३ । २—५ ) इति ।

अन्त्यान्तरकृतकर्मसम्बन्धं प्राग-  
अवस्थाप्ये पि गार्हस्थ्येऽद्विद्यो-  
गसंलग्नस्य स्पृष्टिसंभवात्कर्मा-  
न्त्यान्तरं र्थत्वाच्च गार्हस्थ्यं  
प्रतिपत्तौः कर्मसाध्यायां च  
विद्ययां सत्यां गार्हस्थ्यप्रति-  
पत्तिरनर्थाकैव ।

लोककार्यत्वाच्च पुत्रादीनाम् ।  
पुत्रादिसाध्येभ्यश्चायं लोकं पितृ-  
लोकं देवलोकं इत्येतेभ्यो व्या-  
वृत्तकामस्य नित्यसिद्धत्वरमलोक-  
दर्शिनः कर्मणि प्रयोजनमपश्यता-  
कर्म प्रवृत्तिरूपपद्यते । प्रतिपन्न-  
गार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्या-

भी इतर आश्रमोंक क्रिये प्रसिद्ध ही  
हैं । वे तथा ध्यान-धारणादिरूप  
कर्म [ विद्या आदि योगोंसे ]  
असंकीर्ण होनेके कारण ज्ञानकी  
अपत्तिमें सर्वोत्तम साधन हैं । आगे  
( अध्या० २ । ५ में ) यह कर्मोंसे  
भी कि 'तपके द्वारा ब्रह्मज्ञान-  
की प्राप्ति कर' ।

जन्मान्तरमें क्रिये हुए कर्मोंसे तो  
गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेसे पूर्व भी  
ज्ञानकी अपत्ति होगा सम्भव है ।  
तथा गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति केवल  
कर्मोंकी ही क्रिये की जाती है ।  
अतः कर्मसंग्रह्य ज्ञानकी प्राप्ति हो  
जानेपर तो गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति  
भी व्यर्थ ही है ।

इसके सिद्ध पुत्रादि सुखम तो  
लोकोंकी प्राप्तिके क्रिये हैं । पुत्रादि  
सुखनोंसे सिद्ध होनेवाले इन इह-  
लोक, पितृलोक एवं देवलोक आदि  
से जिसकी कामना निवृत्त हो गयी  
है, नित्यसिद्ध आत्माका साक्षात्कार  
करनेवाला एवं कर्मोंमें कोई प्रयोजन  
न देखनेवाले उस ब्रह्मवेत्ताकी  
कर्मोंमें कैसे प्रवृत्ति हो सकती  
है ? जिसने गृहस्थाश्रम स्वीकार  
कर लिया है उसे भी जब ज्ञानकी

परिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रया  
जनमपश्यत कर्मभ्यो निवृत्ति  
रव स्यात् । “प्रप्रविष्यन्वा अरे  
ऽहमस्मात्स्नानादसि” (बृ० उ०  
४।५।२) इत्येवमादिभ्युत्ति  
तिङ्गदर्शनात् ।

कर्म प्रति भुतेर्यज्ञाधिक्यद  
र्शनादपुष्कमिति वेदप्रिहात्रादि  
कर्म प्रति भुतेरधिक्ये यज्ञा  
महांश्च कर्मण्यायासाऽनेकसाध-  
नसाध्यत्वादप्रिहात्रादीनाम् ।

तपोऽन्नमद्यर्थादीनां चैतराभ्रम  
कर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वाद्  
स्वसाधनापेक्षत्वाच्चैतरेषां न  
युक्तस्तुर्यवद्विकृत्य आभमिभि-  
स्तस्येति चेत् ।

न; अन्मान्तरकृतानुग्रहात् ।

यदुक्त कर्मणि भुतरधिक्य  
यज्ञ इत्यादि नासौ दापः

प्राप्ति होती है और कामके परिष्कार-  
से क्रियोंमें वैराग्य होता है तो,  
कर्मोंमें अन्मा कोई प्रयोजन न देखकर  
उनसे निवृत्ति ही होगी । इस निम्नमें  
“अरी मंत्रयि ! अब मैं इस स्नानसे  
संन्यास करना चाहता हूँ” इत्यादि  
भुतिरूप छिन्ना भी देखा जाता है ।

पू०—किन्तु कर्मके प्रति भुतिक्रम  
अधिक प्रयत्न देखनेसे तो यह बात  
ठीक नहीं जान पड़ती!—अग्निहोत्रादि  
कर्मके प्रति भुतिक्रम विशेष प्रयत्न है;  
कर्मानुष्ठानमें व्यक्तस भी अधिक है;  
क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म अनेक  
साधनोंसे सिद्ध होनेवाले हैं । अन्य  
आभ्रमोंके कर्म तप और ब्रह्मचर्यादि  
तो गृहस्थाभ्रममें भी उन्हींके समान  
कर्तव्य तथा व्यक्तसाधनकी अपेक्षा  
काले हैं; अतः अन्य आभ्रमोंके  
साथ गृहस्थाभ्रमके समान-सा  
मानना तो उचित नहीं है !

शिवान्ता—नहीं, क्योंकि उनपर  
अन्मान्तरकृत अनुग्रह होता है ।  
हमन जो कहा कि अन्तर  
भुतिक्रम विशेष प्रयत्न है इत्यादि,  
तो यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि

यथा जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रा  
दिसृष्ट्यां कर्म ब्रह्मचर्यादिसृष्ट्या  
वानुप्राहक भवति विद्यास्पष्टि  
प्रति । येन जन्मनैव विरक्ता  
वश्यते केचित् । केचित्तु कर्मसु  
प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविदे  
पिण । तस्माज्जन्मान्तरकृत  
संस्कारेणा विरक्तानामाभ्या  
न्तरप्रतिपक्षिरेवेत्येते ।

जन्मान्तरमें किया हुआ भी अग्नि-  
होत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादिरूप कर्म  
ज्ञानकी उत्पत्तिमें उपयोगी होता है,  
विद्यसे कि कोई लोग तो जन्मसे ही  
विरक्त देसे जाते हैं और कोई कर्ममें  
लग्न, वैराग्यान्व एवं ज्ञानके  
विरोधी टीका पढ़ते हैं । अतः  
जन्मान्तरके संस्कारोंके कारण जो  
विरक्त हैं उन्हें तो [ गृहस्थाश्रमसे  
मिन्न ] अन्य आश्रमोंको स्वीकार  
करना ही इष्ट होता है ।

कर्मफलबाहुरयाद्यः पुत्रस्य  
कर्मनिवे ह्ये र्गब्रह्मचर्यसादिसृष्ट  
कर्मफलसेकार्ण णस्य कर्मफलस्या  
संस्मयेत्वात्, उत्प्रति च पुरु-  
पात्मा कामबाहुरयाद्यदर्भः श्रुते  
रधिको यतः कर्मघपपद्यते ।  
आश्रिपां बाहुर्यदर्शनादिदं मे  
स्वादिवं मे स्वादिति ।

कर्मफलोंकी अधिकता होनेके  
कारण भी [ श्रुतिमें उनका  
विशेष विस्तार है ] । पुत्र, सर्ग एवं  
ब्रह्मज्ञान आदि कर्मफल असंख्येय  
होनेके कारण और उनके विवे  
पुरुषोंकी कर्मनाशोंकी अधिकता  
होनेसे भी कर्मोंके प्रति श्रुतिप्रदा  
अधिक मह होना ठीक ही है;  
क्योंकि 'मुझे यह मिळे, मुझे यह  
मिळे' इस प्रकार कर्मनाशोंकी  
बाहुल्यता भी देखी ही जाती है ।

उपायत्वाद्य, उपायभूतानि  
दि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवा  
चाम । उपायेऽधिक्य यतः  
कृतव्या नापये ।

उपायभूत होनेके कारण भी  
[ श्रुतिप्रदा उनमें विशेष प्रपत्त है ] ।  
कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें उपायरूप हैं ऐसा  
इस पहले बह पुर है, तथा प्रपत्त  
उपयमे ही अधिक करना चाहिये,  
उपयमे नहीं ।

कर्मनिमित्तत्वादिद्याया यत्ता  
न्तरानर्थक्यमिति चेत्कर्मस्य एव  
पूर्वोपहितदुरितप्रतिबन्धस्यादेव  
विद्योत्पद्यते चेत्कर्मस्यः पृथगुप  
निष्कृष्टवणादियत्तोऽनर्थक इति  
चेत् ।

न; नियमाभावात् । न हि  
प्रतिबन्धस्यादेव विद्योत्पद्यते न  
स्वीचरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठा-  
नादिति नियमोऽस्ति । अहिंसा  
ब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युप  
कारकत्वात्साक्षाद्बन्धकारणत्वा  
च्छ्रवणमनननिदिध्यासनानाम् ।  
अतः सिद्धान्वाभमान्तराणि  
सर्वेषां चाधिकारो विद्यायां परं  
च श्रेयः केवलाया विद्याया  
ण्वेति सिद्धम् ।

पूर्व०—ज्ञान कर्मके निमित्तसे होने-  
वाला है, इसलिये भी अन्य प्रयत्नकी  
मिर्दर्यकता सिद्ध होती है । यदि कर्मों-  
के द्वारा ही पूर्वसञ्चित पापरूप प्रति-  
बन्धका क्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति  
होती है तो कर्मोंसे मित्र उत्पन्नकर-  
णात्तु विनयक प्रयत्न व्यर्थ ही है  
ऐसा मानें तो !

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा  
कोई नियम नहीं है—ज्ञानकी उत्पत्ति  
प्रतिबन्धके क्षयसे ही होती है,  
ईश्वरकृपा, तप एवं ध्यानादिक  
अनुष्ठानसे नहीं हो सकती ऐसा  
कोई नियम नहीं है क्योंकि अहिंसा  
एवं ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्तिमें  
उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन और  
निदिध्यासनादि तो उसके साक्षात्  
कारण ही हैं । अतः अन्य आश्रमों-  
का होना सिद्ध ही है तथा ज्ञानमें  
सभी आश्रमियोंका अधिकार है ।  
इससे यह सिद्ध हुआ कि परमश्रेयस्की  
प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है ।

# द्वादश अनुवाक

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गश्चम

पूर्वकवि विषाकी प्राक्षिके  
प्रतिबन्धोंकी शान्तिके किये पढ़ाने  
पाठ किया जाता है—

नार्थं शान्तिं पठति—

श नो मित्र श वरुण । श नो भवत्वयमा ।

श न इन्द्रो वृहस्पति । शं नो विष्णुस्तुक्त्रम । नमो

ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव

प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिपम् । ऋतमवादिपम् । सत्यमवादिपम् ।

तन्मामावीत् । तद्वृत्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वृत्तारम् ॥

ॐ शान्तिः । शान्ति ॥ शान्तिः ॥ १ ॥

मित्र ( सूर्यदेव ) हमारे किये सुखकर हो । बरुण हमारे किये सुखकर हो । अथवा हमारे किये सुखकर हो । इन्द्र तथा वृहस्पति हमारे किये शान्तिदायक हो । तथा जिसका पाठ-विशेष बहुत विलुप्त है वह विष्णु हमारे किये सुखदायक हो । ब्रह्म [ रूप वायु ] को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रायश्च ब्रह्म हो । तुम्हींको हमने प्रायश्च ब्रह्म कहा है । तुम्हींको ऋत कहा है । तुम्हींको सत्य कहा है । अतः तुमने मेरी रक्षा की है तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवासे ब्रह्मचार्यकी भी रक्षा की है । मेरी रक्षा की है और ब्रह्मकी भी रक्षा की है । त्रिपि सायकी शान्ति हो ॥ १ ॥

श्याम्प्यातमेतत्पूर्वम् ॥ १ ॥ । इसकी व्याख्या पहले की जा  
चुकी है ॥ १ ॥

इति श्रीसायन्स्वर्ग्या द्वादशोऽनुवाकः ॥ १९ ॥

श्री श्रीमद्भारतमहासंहितायां अथर्ववेदोपनिषत्सु अथर्वब्राह्मणस्य-

श्रीमच्छुद्धमन्त्रेण हृत्वी सेवितीपोनिक्रान्ते

शीघ्रं श्री समता ॥



# ब्रह्मानन्दश्लो

## प्रथम अनुवाक

ब्रह्मानन्दश्लोक शान्तिपाठ

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रश्न-  
मनार्था शान्तिः पठिता । इदानीं  
तु बह्व्यमात्रप्रश्नविद्याप्राप्त्युप-  
सर्गोपसमनार्था शान्तिः पठ्यते-

पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके  
प्रतिबन्धोकी शान्तिके क्रिये शान्ति-  
पाठ कर दिया गया । अब आगे  
कही जानेवाली विद्याकी प्राप्तिके  
प्रतिबन्धोकी शान्तिके क्रिये शान्ति-  
पाठ किया जा रहा है—

ॐ सह नाववतु । सह नौ मुनकतु । सह वीर्यं करवावहै ।  
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

[ यह परमात्मा ] हम [ आचार्य और शिष्य ] दोनोंकी साथ-साथ  
रखा करे, हम दोनोंका साथ-साथ फाटन करे, हम साथ-साथ वीर्यधन  
करे, हमारा व्यपयन किया हुआ, तेजस्वी हो और हम परस्पर द्वेष न  
करें । तीनों प्रकारके प्रतिबन्धोकी शान्ति हो ।

सह नावतु—नौ शिष्याचार्यौ  
सहैवावतु रक्षतु । सह नौ मुनक्तु  
मोक्षयतु । सह वीथ विद्यादि  
निमिर्षं सामर्थ्यं करवावहै निर्बर्ष  
वावहै । तेऽस्विनावावयोस्तेऽ-  
स्विनोरधीतं स्वधीतमस्तु, अर्थ  
ज्ञानयोग्यमस्त्वित्यर्थः । सा  
विद्विषावहै; विद्याप्रद्विषनिमिर्ष  
शिष्यस्वाचार्यस्य वा प्रमादकृता  
द्वन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तस्तच्छमनाय  
इयमाशीर्मा विद्विषावहा इति ।  
मैवेतरेतरं विद्वेषमापधावहै ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति  
त्रिर्बचनमुक्तार्थम् । मस्यमात्र  
विद्याविम्वप्रश्मनाथा शेष  
शान्तिः । अविध्नेनास्मविद्या  
प्राप्तिराश्वास्तते तन्मूलं हि परं  
श्रेय इति ।

‘सह नावतु’—[ यह प्रश्न ] हम  
आचार्य और शिष्य दोनोंकी सप-  
साप ही रक्षा करे और हमारा सप-  
साप मरण अर्थात् पादन करे । हम  
साप-साप शीर्ष यानी विद्यानमित  
सामर्थ्य सम्पादन करें, हम दोनों  
तेजसियोंका अप्ययन किया हुआ  
तेजस्वी—सम्पत् प्रकरसे अप्ययन  
किया हुआ अर्थात् अर्थ-ज्ञानके योग्य  
हो तथा हम विद्वेष न करें । विद्या  
प्रद्वणके कारण शिष्य अप्यय  
आचार्यका प्रमादकृत अन्यायमे  
द्वेष हो सकता है, उसकी शान्तिके  
क्रिये ‘सा विद्विषावहै’ ऐसी कामना  
की गयी है । तात्पर्य यह है कि  
हम एक दूसरेसे विद्वेषको प्राप्त न हों ।

‘शान्ति शान्ति शान्ति’ इस  
प्रकार तीन बार ‘शान्ति’ शब्द  
उच्चारण करनेका प्रयोजन पहले कदा  
जा चुका है । यह शान्तिपाठ आगे  
कही जानेवाली विद्याके विधियोंकी  
शान्तिके क्रिये है । इसके द्वारा  
निर्विघ्नतापूर्वक आरम्भविद्याकी प्राप्ति  
की कामना की गयी है; क्योंकि वही  
परम श्रेयका भी मूल कारण है ।

प्रसन्नानके फल, सृष्टिकर्म और अथमय कोसरूप  
पक्षीकर्म कर्म

सहितादिविषयाणि कर्मणि  
रविरुद्यान्युपासना-  
न्युक्तानि । अनन्तरं  
चान्तःसोपाधिकारमदर्शनमुक्तं  
व्याहृतिद्वारेण स्वाराज्यफलम् ।  
न चैतावताशेषतः संसारबीज-  
स्योपमर्दनमस्तीत्यतोऽश्लेषोपद्रव  
धीश्लाघानस्य निवृत्त्यर्थं विभूत  
सर्वापाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिदं  
भारम्यते ब्रह्मविदाप्नाति पर  
मिस्थिति ।

प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया  
अविद्यानिवृत्तिस्तव आत्यन्तिकः  
संसाराभावः । ब्रह्मसि च-  
“विद्वाश्च विमेति कुतश्चन”  
( तै० उ० २।९।१ ) इति ।  
संसारनिमित्ते च सत्यमर्थ  
प्रतिष्ठां च बिन्दत इत्यनुपपन्नम्,  
कृताकृते पुण्यपापे न तपत इति  
च । अतोऽपगम्यतेऽस्माद्विज्ञाना-  
नसवात्मब्रह्मविषयादात्यन्तिक  
संसाराभाव इति ।

कर्मसे अतिक्रम संहितादिविषयक  
उपसनाओंका पहले कर्म किया  
गया । उसके पश्चात् व्याहृतियोंके  
द्वारा साराम्यरूप फल देनेका  
इदपस्थित सोपाधिक आत्मदर्शन  
कहा गया । किन्तु इतनेहीसे संसार  
के बीजका पूर्णतया नाश नहीं हो  
जाता । अतः सम्पूर्ण उपद्रवोंके  
बीजमूल अज्ञानकी निवृत्तिके निमित्त  
इस सर्वोपाधिकरूप विशेषसे रहित  
आत्मका साक्षात्कार करानेके लिये  
जब ब्रह्मविज्ञानोक्ति परम् इत्यदि  
मन्त्र आरम्भ किया जाता है ।

इस ब्रह्मविद्याका प्रयोजन अविद्या-  
की निवृत्ति है; उससे संसारका  
आत्यन्तिक अभाव होता है । यही  
वाक्य “ब्रह्मवेत्ता किंसीसे नहीं डरता”  
इत्यदि वाक्यसे सुनि आगे कहेंगी  
मी । संसारके निमित्त [ अज्ञान ]  
के रहते हुए ‘पुरुष अथमय स्थितिकी  
प्राप्त कर लेता है; तथा उसे कृता  
और अकृता अर्थात् पुण्य और पाप  
काय नहीं पहुँचाते’ ऐसा मानना  
सर्वथा अशुभ है । इससे जाना  
जाता है कि इस सर्वोपमक ब्रह्म-  
विज्ञानके ही संसारका  
आत्यन्तिक अभाव होता है ।

स्वयमेव च प्रयोजनमाह  
 ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादावेव  
 सम्बन्धप्रयोजनज्ञापनार्थम् । नि-  
 र्हातयोहि सम्बन्धप्रयोजनयो-  
 र्विद्याभरणग्रहणधारणाम्यासार्व  
 प्रवर्तते । भवमादिपूर्वकं हि  
 विद्याफलम् “श्रोतव्यो मन्तव्यो  
 निदिष्यासितव्यः” ( बृ० उ०  
 २।४।५ ) इत्यादिश्रुत्यन्त-  
 रेभ्यः ।

इस प्रकरणके सम्बन्ध और  
 प्रयोजनका ज्ञान करानेके लिये  
 श्रुतिने स्वयं ही ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’  
 इत्यादि वाक्यसे आरम्भमें ही इसका  
 प्रयोजन बतला दिया है; क्योंकि  
 सम्बन्ध और प्रयोजनोंका ज्ञान ही  
 जानेपर ही पुरुष विद्याके ग्रहण,  
 ग्रहण, धारण और अम्यासके लिये  
 प्रवृत्त हुआ करता है । “श्रोतव्यो  
 मन्तव्यो निदिष्यासितव्यः” इत्यादि  
 दूसरी श्रुतियोंसे यह भी निश्चय  
 होता ही है कि विद्याका फल  
 भवणादिपूर्वक होता है ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तवेषाम्युक्ता सत्यं ज्ञानं  
 मनन्त ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।  
 सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।  
 तस्माद्वा पतस्माद्वात्मन आकाश संभूतः । आकाशाद्वायुः ।  
 वायोरग्निः । अग्नेरापः । अपद्मयः पृथिवी । पृथिव्या  
 ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष  
 पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येवमेव शिरः । अयं दक्षिण पक्षः ।  
 अयमुत्तर पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
 तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता परमात्मको प्राप्त कर भिन्ना है । उसके विषयमें यह  
 [ श्रुति ] कही गयी है—‘ब्रह्म सत्यं, ज्ञान और अनन्त है ।’ जो पुरुष उसे  
 बुद्धिरूप परम आकाशमें निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे एक  
 साथ ही सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर भिन्ना है । उस इस आत्मासे ही  
 वाङ्मय उत्पन्न हुआ । वाङ्मयसे वायु वायुसे अग्नि, अग्निसे अन्न,

बलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे जोयधियोँ, जोयधियोँसे अग्नि और अग्निसे पुरुष उदग्नि हुआ। वह यह पुरुष अग्नि एव रसमय ही है। उसका यह [ शिर ] ही शिर है, यह [ दक्षिण बाहु ] ही दक्षिण पक्ष है यह [ वाम बाहु ] वाम पक्ष है, यह [ शरीरका मध्यभाग ] आत्मा है और यह [ नीचेका भाग ] पुच्छ प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ २ ॥

ब्रह्मविद्ब्रह्मेति ब्रह्ममाण्डल्यर्ष  
 ऋषिर्ब्रह्म ब्रह्ममत्तमाह्वय स  
 ब्रह्ममास्तिब्रह्मपर ब्रह्मेति विज्ञानातीति  
 ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिष्ठयं  
 तदेव ब्रह्म परम् । न ह्यन्यस्य  
 विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिः । स्पष्टं  
 च श्रुत्यन्तर ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्म  
 विदो दर्शयति “स यो ह वै  
 सत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति”  
 ( मृ० उ० ३।२।९ ) इत्यादि ।

ननु सर्वगतं सर्वस्यात्मभूतं  
 ब्रह्म ब्रह्मयति । अतो नाप्यसु ।  
 प्राप्तिश्चान्यस्यान्यन परिच्छिन्नस्य  
 च परिच्छिन्नेन दृष्टा । अपरि  
 छिन्न सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः  
 परिच्छिन्नब्रह्मदनात्मवद्य तस्यास्ति-  
 रनुपपत्त्या ।

‘ब्रह्मवित्’—ब्रह्म, जिसका अर्थ  
 वागे कहा जाएगा और जो  
 सबसे बड़ा होनेके कारण ‘ब्रह्म’  
 कहा जाता है, उसे जो जानता है  
 उसका नाम ‘ब्रह्मवित्’ है; वह  
 ब्रह्मवित् उस परम—निरतिष्ठाय ब्रह्म-  
 को ही ‘अप्नोति’—प्राप्त कर लेता  
 है; क्योंकि अन्यके विज्ञानसे किसी  
 अन्यकी प्राप्ति नहीं हुआ करती ।  
 “यह, जो कि निश्चय ही उस परब्रह्म  
 को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता  
 है” यह एक बृहरी मुनि ब्रह्मवेत्त-  
 को स्पष्टतया ब्रह्मकी ही प्राप्ति होना  
 प्रदर्शित करती है ।

ब्रह्म—ब्रह्म सर्वगत और सबका  
 आत्मा है—ऐसा वागे कहेंगे, इसलिये  
 वह प्राप्त्य नहीं हो सकता । प्राप्ति  
 तो अन्य परिच्छिन्न पदार्थकी किसी  
 अन्य परिच्छिन्न पदार्थद्वारा ही होती  
 देखी गयी है । किन्तु ब्रह्म तो  
 अपरिच्छिन्न और सर्वात्मक है;  
 इसलिये परिच्छिन्न और अनारम्भ-  
 पदार्थके समान उसकी प्राप्ति होनी  
 असम्भव है ।

नार्यं दोषः; कथम् ? दर्शनं  
 नादर्शनापेक्षत्वाद्ब्रह्मण्यं आप्त्यं  
 नाप्त्योः । परमार्थतो ब्रह्मरूप  
 स्यापि सतोऽस्य जीवस्य भूत  
 मात्रात्तत्तत्प्राप्तपरिच्छिन्नभावनया-  
 घात्मदर्शिनस्तदासक्तचेतसः प्र  
 कृतसंख्यापूरणस्यात्मनोऽभ्यव  
 हितस्यापि ब्रह्मसंख्येयविषया-  
 सक्तचित्ततया स्वरूपाभावदर्शनं  
 ब्रह्मपरमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शन-  
 संख्ययाविषयान्नमयादीन्ब्राह्म-  
 ननात्मन आत्मरत्नं प्रतिपन्न  
 स्वादन्नमयाघनात्मभ्यो नान्यो-  
 ऽऽत्ममीत्यभिमन्यते । एवमविष-  
 यात्मभूतमपि प्रमानार्थं स्यात् ।

समाधान—यह कोई दोषकी  
 बात नहीं है, किस प्रकार नहीं  
 है ! क्योंकि ब्रह्मकी प्राप्ति और  
 अप्राप्ति तो उसके साक्षात्कार और  
 असाक्षात्कारकी अपेक्षासे हैं । जिस  
 प्रकार [ दशम पुरुषके क्रिये ]  
 प्रकृत ( दशम ) सख्याकी पूर्ति  
 करनेवाला अपना-आपः सर्वथा  
 अभ्यवहित होनेपर भी सख्या करने  
 योग्य बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त  
 रहनेके कारण वह अपने स्वरूपका  
 जमाव देखता है उसी प्रकार जब  
 भूत तन्मात्राओंसे उत्पन्न हुए बाह्य  
 परिच्छिन्न अन्तमय कोशादिमें अत्म-  
 मात्र देखनेवाला यह जीव परमार्थत  
 ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी उनमें आसक्त  
 हो जाता है और अपने परमार्थ  
 ब्रह्मस्वरूपका जमाव देखनामय  
 अविषासे अन्तमय कोशा आदि बाह्य  
 अनात्मभावोंको आत्मस्वरूपसे देखने-  
 के कारण भी अन्तमय आदि  
 अनात्मभावोंसे भिन्न नहीं हैं ऐसा  
 अभिमान करने लगता है । इस प्रकार  
 अपना ज्ञान होनेपर भी अविषावदा  
 ब्रह्म अप्राप्त ही है ।

• इस विषयमें यह उदाहरण प्रकृत है कि एक बार दश मनुष्य पात्रा  
 कर रहे थे । रास्तेमें एक नदी पड़ी । जब उधे पार कर के उनके बूते छपर  
 पहुँचे तो वह बान्नेके निचे कि हममेंसे कोई बह ली नहीं गया अन्नेको भिन्ने  
 ली । उनमेंसे जो भी भिन्ना आरम्भ करता वह अन्नेको छोड़कर रोना नीचे  
 ही भिन्ना । इस प्रकार एकही कमी रहनेके कारण वे बह लगाकर कि हममेंसे  
 एक आरम्भ नहीं है बह लगा के किता ने ने ने ।

तस्यैवमविद्ययानाप्तब्रह्मस्य  
रूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्म-  
नोऽविद्ययानाप्तस्य सतः केन-  
चित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव वि-  
द्ययासिद्धिर्था तथा भृत्युपदिष्टस्य  
सर्वात्मप्रक्षण आत्मत्वदर्शनेन  
विद्यया तदाप्तिरूपपद्यत एव ।

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्यं  
उच्यते अथ भूतम् । सर्वस्य  
अपि च वस्तुपर्यस्य ब्रह्म  
विदाप्नोति परमित्यनेन वाक्येन  
षेपतया सुप्रितस्य प्रक्षणोऽनि-  
धारितस्य अपविशेषस्य सर्वतो  
भ्याश्रुतस्वरूपविशेषसमर्पणसम-  
र्थस्य लक्षणस्याविशेषेण वाक्तवद्  
नस्य प्रक्षणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य

ब्रह्म प्रकार प्रकृत ( दशान )  
संख्याको पूर्ण करनेवाला अणु-वाप  
अविद्यावशा अप्राप्त रहता है और फिर  
विशेषों द्वारा स्मरण करा दिये जाने  
पर विद्याद्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती  
है उसी प्रकार अविद्यावशा ब्रह्मके  
ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती  
उस सबके आत्ममूत भृत्युपदिष्ट  
ब्रह्मकी आत्मदर्शनरूप विद्याके द्वारा  
प्राप्ति होती उचित ही है ।

‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ यह वाक्य  
सूत्रमूल है । जो सम्पूर्ण बल्लीके  
अर्थका नियम है, ब्रह्मविदा-  
प्नोति परम् इस वाक्यद्वारा वाक्य-  
रूपसे सूत्रतः तस्मै च किया गया  
है, उस ब्रह्मके ऐसे लक्षणका-  
ब्रह्मके विशेष रूपका निश्चय नहीं  
किया गया है और जो सम्पूर्ण  
बस्तुओंसे व्यापृत स्वरूपविशेषका  
ज्ञान करानेमें समर्थ है—वर्णन करते  
हुए स्वरूपका निश्चय करानेके लिये  
तथा ब्रह्मके ज्ञानका सामान्यरूपसे  
वर्णन कर दिया गया है उस भाग  
कहे जानेवाले लक्षणसे कुछ ब्रह्मके

पुरुष उभर आ निकल्य । उभरने का इच्छा-ज्ञान कर उन्हें एक आत्ममें लवा  
दिया और हाथमें डंठा लेकर एक ही तीन-एक प्रकार गिनते हुए हर  
एकके एक एक डंठा गणाकर उन्हें दस होनेका नियम करा दिया और  
वह भी गिनना दिया कि वह दसवाँ पुरुष सब गिननेवाला ही था जो  
दृष्टांतमें अक्षरकविचर करनेके कारण धरनेको भूके हुए था ।

विशेषेण प्रत्यगात्मवयानन्य  
रूपेण विशेषत्वाय, ब्रह्मविद्याफलं  
य ब्रह्मविदो यत्परब्रह्मप्राप्ति  
लक्षणमुक्तं स सर्वतमभावः सर्व  
ससारधर्मशीतब्रह्मस्वरूपस्वमेव  
नान्यदित्मेवत्प्रदर्शनायैर्गुणादि  
यते-तदेवाम्युक्तेति ।

विशेषतः 'अपना अन्तरात्मा होनेसे  
जगन्पुरुषसे वाग्नेयोग्य है' ऐसा  
प्रतिपादन करनेके लिये और यह  
दिसकनेके लिये कि-ब्रह्मवेदात्मे जो  
परमात्माकी प्राप्तिरूप ब्रह्मविद्याका  
फल बतलाया गया है वह सर्वतमभाव  
सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे अतीत  
ब्रह्मस्वरूपता ही है-और कुछ नहीं  
है-तदेवाम्युक्ता' यह श्रुति कही  
जाती है ।

तद्-उस प्राज्ञनामकपदारा  
बतलाये हुए अर्थमें ही [ सत्यं ज्ञान  
ममस्त ब्रह्म ] यह श्रुति कही गयी  
है । 'सत्यं ज्ञानममस्त ब्रह्म' यह  
वाक्य ब्रह्मका उद्घरण करनेके लिये  
है । 'सत्यं' आदि तीन पद विशेष्य  
ब्रह्मके विशेषण बतलानेके लिये हैं ।  
वेद्यरूपसे विवक्षित ( बतलाये जाने-  
को कह ) होनेके कारण ब्रह्म  
विशेष्य है । क्योंकि ब्रह्म प्रधानतया  
वेद्यरूपसे ( ज्ञानके नियमरूपसे )  
विवक्षित है, इसलिये उसे विशेष्य  
समझना चाहिये । अतः इस  
विशेषण विशेष्यमात्रके कारण एक  
ही विवक्षितवाक्ये 'सत्यं' आदि तीनों  
पद समानाधिकरण हैं । सत्य आदि

तच्चक्षिन्नेव प्राज्ञणवाक्यो-  
क्तेऽर्थ एवर्गाम्युक्ताम्नात् । सत्यं  
ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्ष  
णार्थं वाक्यम् । सत्यादीनि हि  
श्रीणि विशेषणार्थानि पदानि  
विशेष्यस्य ब्रह्मस्य । विशेष्य  
ब्रह्म विवक्षितत्वाद्ब्रह्मण्यया ।  
ब्रह्मत्वेन यतो ब्रह्म प्राधान्येन  
विवक्षितं तस्माद्विशेष्य विशेष्यम् ।  
अतः अस्माद् विशेषणविशेष्य  
त्वादेव सत्यादीनि एक-  
विधस्त्यन्तानि पदानि समाना-  
धिकरणानि । सत्यादि-



भिक्षिभिर्विशेषैर्विशेष्यमाद्यं ब्रह्म  
विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते । एवं  
हि तज्ज्ञानं भवति यदन्येभ्यो  
निर्धारितम् । यथा लोके नीलं  
महत्सुगन्ध्युत्पलमिति ।

ननु विशेष्यं विशेष्यान्तरं  
विशेष्यत्वे व्यभिचरद्विशेष्यते ।  
विशेष्यत्वे यथा नीलं रक्तं  
व्यभिचरति । यदा ह्यनेकानि  
द्रव्याण्येकजातीयान्यनेकविशेष्य-  
यागीनि च तदा विशेष्यस्यार्थ-  
वत्त्वम् । न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि  
विशेषणान्तरायोगात् । यथासा-  
वेक आदित्य इति, तथैकमेव च  
ब्रह्म न ब्रह्मान्तराणि येभ्यो  
विशेष्येव नीलोत्पलवत् ।

न; लक्षणार्थत्वाद्विशेष्या-  
नाम् । नार्थदोषः;  
कसात् ? यस्मात्ल-  
क्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि न

तीन विशेषणोंसे विशेषित होनेवाला  
ब्रह्म अन्य विशेष्योंसे पृथग्रूपसे निश्चय  
किया जाता है । जिसका अन्य पदार्थों  
से पृथग्रूपसे निश्चय किया गया है  
उसका इसी प्रकार ज्ञान हुआ करता  
है; जैसे ज्येष्ठो मीठा विराट और  
सुगन्धित कमल [—ऐसा कहकर ऐसे  
कमलका अन्य कमलोंसे पृथग्रूपसे  
निश्चय किया जाता है ] ।

सङ्घा—अन्य विशेषणोंका व्यावर्तन  
करनेपर ही कोई विशेष्य विशेषित  
हुवा करता है; जैसे—मीठा जपवा  
जल कमल । जिस समय ज्येष्ठ द्रव्य  
एक ही जातिके और ज्येष्ठ विशेषणों-  
की योग्यतावालि होते हैं तभी  
विशेषणोंकी सार्थकता होती है । एक  
ही वस्तुमें, किसी अन्य विशेषणका  
सम्बन्ध न हो सकनेके कारण,  
विशेषणकी सार्थकता नहीं होती ।  
जिस प्रकार यह सूर्य एक है उसी प्रकार  
ब्रह्म भी एक ही है, उसके सिवा अन्य  
ब्रह्म हैं ही नहीं, जिससे कि नील  
कमलके समान उसकी विशेषता  
बतव्यी जाय ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक  
नहीं है; क्योंकि ये विशेष्य लक्षणके  
लिये हैं । [ जब इस सूत्रका वाक्य-  
की ही व्याख्या करते हैं—] यह  
दोष नहीं हो सकता; क्यों नहीं हो  
सकता ? क्योंकि ये विशेषण लक्षणार्थ-

विशेषणप्रधानान्येव । क पुनर्लक्षणलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा विशेष इति ? उच्यते; समान-आतीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य । लक्षणं तु सर्वत एव यथात्रकाशप्रदाया-काशमिति । लक्षणार्थं च वाक्यमित्यबोधाम ।

सत्यादिशब्दा न परस्परं सम्बन्धितः सवर्धन्ते परार्थं व्याख्यानम् त्वात् । विशेष्यार्था हि ते । अत एकैको विशेषणशब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्मशब्देन संबन्धते सस्य ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मानन्त ब्रह्मेति ।

सत्यमिति यद्रूपण यन्निमित्तं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम् । यद्रूपं निमित्तं यत्तद्रूपं व्यभि-

प्रधान हैं, केवल विशेषणप्रधान ही नहीं हैं । किन्तु लक्षण-लक्ष्य तथा विशेषण-विशेष्यमें विशेष्यता (अन्तर) क्या है ? सो बतलाते हैं—विशेषण तो अपने विशेष्यका उसके सजातीय पदार्थोंसे ही व्यावर्तन करनेवाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे समीचे व्याहृत कर देता है, जिस प्रकार व्यवस्था देनेवाला 'वाक्यस' होता है—इस वाक्यमें है । यह हम पहले ही कहा चुके हैं कि यह वाक्य [वाक्यस] लक्षण करनेके लिये है ।

सत्यादि शब्द परार्थ (दूसरेके लिये) होनेके कारण परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं । वे तो विशेष्यके ही लिये हैं । अत उक्तमेंसे प्रत्येक विशेषणशब्द परस्पर एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखकर ही 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार 'ब्रह्म' शब्दसे सम्बन्धित है ।

सत्यम्—जो पदार्थ जिस रूपसे निश्चय किया गया है उससे व्यभिचरित न होनेके कारण वह सत्य कहा जाता है । जो पदार्थ जिस रूपसे निश्चित किया गया है उस रूपसे

परदन्तमित्युच्यते । अतो विकारोऽनृतम् । “वाधारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” (छा० उ० ६।१।४) एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात् । अतः सत्यं ब्रह्मति ब्रह्म विकाराभिर्बर्तयति ।

अतः कारणस्य प्राप्तं ब्रह्मणः ।

व्यभिचरित्वात् कारणस्य च कारण-  
व्यभिचरित्वात् कर्त्तृवस्तुत्वान्मृद्-  
वाक्यकर्त्तृत्वान्मृद-  
दक्षिणरूपता च प्रा-  
विकारणं च सात इदमुच्यते

ज्ञानं ब्रह्मति । ज्ञानं इतिरव-  
बोधः, भावसाधनो ज्ञानशब्दो  
न तु ज्ञानकर्त्तृ ब्रह्मविशेषण-  
त्वात्सत्यानन्ताम्यां सह । न  
हि सत्यतानन्तता च ज्ञान-  
कर्त्तृत्वे सत्युपपद्यते । ज्ञान-  
कर्त्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कर्त्तृ-  
सत्यं भवेदनन्तं च । यदि न

व्यभिचरित होमेपर वह मिथ्या कहा जाता है । इसलिये विकार मिथ्या है । “विकार केवल वाणीसे ब्रह्म होनेवाला और नाममात्र है, वस, मृत्तिका ही सत्य है” इस प्रकार निश्चय किया जानेके कारण सत्य ही सत्य है । कतः ‘सत्य ब्रह्म’ यह वाक्य ब्रह्मको विकारमात्रसे निरूप करता है ।

इससे ब्रह्मका कारणत्व प्राप्त होता है और वस्तुरूप होमेसे कारणमें कारणत्व रहा करता है । अतः मृत्तिकारूपके समान उसकी अरूपताका प्रसङ्ग उपस्थित ही जाता है । इसीसे ‘ज्ञानं ब्रह्म’ ऐसा कहा है । ‘ज्ञान’ इति यानी लक्ष्मणको कहते हैं । ‘ज्ञान’ सत्य भाववाचक है; ‘सत्य’ और ‘अनन्त’ के साथ ब्रह्मका विशेषण होनेके कारण उसका कर्त्तृत्व ‘ज्ञानकर्त्ता’ नहीं हो सकता । उसका ज्ञानकर्त्तृत्व हीकारणमेपर ब्रह्मकी सत्यता और अनन्तत्व सम्भव नहीं है । ज्ञानकर्त्तृरूपसे विकारको प्राप्त होनेवाला होकर ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे हो सकता है । जो किसीसे भी

इत्यभिस्रविभज्यते तदनन्तम् ।  
 ज्ञानकर्तृत्वे च ज्ञेयज्ञानान्यां  
 प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात् ।  
 “यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा  
 अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्”  
 ( छा० उ० ७।२४।१ ) इति  
 भ्रुत्यन्तरात् ।

नान्यद्विजानातीति विशेष  
 प्रतिषेधात्स्मानं विजानातीति  
 चेतः भूमलक्षणविधिपरत्वाद्वा-  
 क्यस्य । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादि  
 भूमनो लक्षणविधिपरं वाक्यम् ।  
 यथा प्रसिद्धमेवान्योऽन्यत्पश्य-  
 तीत्येतदुपादाय यत्र तस्मात्ति  
 स भूमेति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्य  
 ते । अन्यग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थ-  
 त्वात् स्वस्वमनि क्रियास्तित्यपरं  
 वाक्यम् । स्वस्वमनि च मेद-

विभक्त नहीं होता वही अनन्त हो  
 सकता है । ज्ञानकर्ता होनेपर तो  
 वह ज्ञेय और ज्ञानसे विभक्त होगा;  
 इसलिये उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं  
 हो सकती । “यहाँ किसी दूसरेको  
 नहीं जानता वह भूमा है और जहाँ  
 किसी दूसरेको जानता है वह अन्य  
 है” इस एक दूसरी युक्तिसे यही  
 सिद्ध होता है ।

इस युक्तिमें दूसरेको नहीं  
 जानता इस प्रकार विशेषकर  
 प्रतिषेध होनेके कारण वह स्वयं  
 अपनेको ही जानता है—ऐसी यदि  
 कोई शक्ती करे तो ठीक नहीं;  
 क्योंकि यह वाक्य भूमाके लक्षणकर  
 विधान करनेमें प्रवृत्त है । यत्र  
 नान्यत्पश्यति इत्यादि वाक्य भूमाके  
 लक्षणकर विधान करनेमें लभ्य है ।  
 अन्य अन्यको देखता है—इस लोक-  
 प्रसिद्ध वस्तुस्थितिको स्वीकार कर  
 जहाँ ऐसा नहीं है वह भूमा है—इस  
 प्रकार उसके द्वारा भूमके स्वत्पक  
 बोध कराया जाता है । ‘अन्य’  
 शब्दका ग्रहण तो यथाप्राप्त द्वैतकर  
 प्रतिषेध करनेके लिये है। अतः यह  
 वाक्य अपनेमें क्रियाकर अस्तित्व  
 प्रतिपादन करनेके लिये नहीं है ।  
 और स्वस्वमनि तो मेरेकर अभाव  
 होनेके कारण अस्वस्व विधान होने

भावाद्विज्ञानानुपपत्तिः । आत्म-

नम् विज्ञेयत्वे ज्ञात्रभावप्रसङ्गः ;

ज्ञयत्वेनैव विनियुक्तत्वात् ।

एक एवात्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृ  
त्वेन बोधयथा भवतीति चेत् ?

न युगपदनंशत्वात् । न हि  
निरवयवस्य युगपन्ध्येयज्ञातृत्वो  
पपत्तिः । आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञे  
यत्वे ज्ञानोपदेशानर्थक्यम् । न  
हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोप  
देशोऽर्थवान् । तस्माज्ज्ञातृत्वे  
सति आनन्त्यानुपपत्तिः ।  
समात्रत्व चानुपपन्नं ज्ञान-  
कर्तृत्वादिभिन्नेष्ववयवेषु सति । स  
मात्रत्वं च सत्यत्वम्, "तस्स-  
त्यम्" ( छा० उ० ६।८।१६ )  
इति भ्रुयन्तरात् । तस्मा  
त्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विश्व

सम्भव ही नहीं है । आत्माका  
विज्ञेयत्व स्वीकार करनेपर तो ज्ञाताके  
अभावका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता  
है, क्योंकि वह तो विज्ञेयरूपसे ही  
विनियुक्त (प्रयुक्त) हो चुका है ।  
[ अब उसे ज्ञाता कैसे माना जाय ? ]

सङ्का—एक ही आत्मा ज्ञेय और  
ज्ञाता दोनों प्रकारसे हो सकता है—  
ऐसा मानें तो ?

समाधान—सही, वह अंशरहित  
होनेके कारण एक साथ उभयरूप  
नहीं हो सकता । निरवयव अस्तक  
एक साथ ज्ञेय और ज्ञाता होना  
सम्भव नहीं है । इसके सिवा यदि  
आत्मा घटादिके समान विज्ञेय हो  
तो ज्ञानके उपदेशकी व्यर्थता हो  
जायगी । जो वस्तु घटादिके समान  
प्रसिद्ध है उसके ज्ञानकर उपदेश  
सार्थक नहीं हो सकता । अतः  
उसकर ज्ञातृत्व माननेपर उसकी  
अनन्तता नहीं रह सकती । ज्ञान  
कर्तृत्वादि विशेषसे युक्त होनेपर  
उसकर समात्रत्व भी सम्भव नहीं  
है । और "यह सत्य है" इस एक  
अल्प भूतिसे उसका सत्यकर होना  
ही समात्रत्व है । अतः 'सत्य' और  
'अनन्त' शब्दोंके साथ विशेषण-

पणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगा-  
 त्प्राप्तसाधनो ज्ञानशब्दः । ज्ञानं  
 ब्रह्मेति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं  
 मृदादिवदधिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च  
 प्रयुज्यते ।

रूपसे 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग किया  
 जानेके कारण वह भावभाषक है ।  
 अतः 'ज्ञानं ब्रह्म' इस विशेषणका उसके  
 कर्तृत्वादि कारकोंकी निवृत्तिके लिये  
 तथा मृत्तिकर आदिक समान उसकी  
 अद्वैतरूपताकी निवृत्तिके लिये प्रयोग  
 किया जाता है ।

ज्ञानं ब्रह्मेतिवचनान्प्राप्तमन्त  
 वन्त्यमित्यस्य ब्रह्मम् । लौकिकस्य  
 निरतिष्ठः ज्ञानस्यान्तब्रह्मदर्श  
 नात् । अतस्तान्निवृत्त्यर्थमाह—  
 अनन्तमिति ।

'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहनेसे ब्रह्मका  
 अन्तपरव प्राप्त होता है, क्योंकि  
 लौकिक ज्ञान अन्तब्रह्म ही देखा  
 गया है । अतः उसकी निवृत्ति  
 के लिये 'अनन्तम्' ऐसा कहा  
 है ।

सत्यादीनामनृतादिभर्मनिवृत्ति  
 मन्त्यः स्वर्ण-परत्वादिशेष्यस्य  
 व्यसक्तते ब्रह्मण उत्पत्तादि  
 ब्रह्मप्रसिद्धत्वात् "मृगत्वप्यात्मसि  
 स्तातः स्वप्नकृतशेखरः ।  
 एष ब्रह्मसुतो याति ब्रह्मभुव-  
 भनुर्धरः" इतिषण्डन्यार्थतैव  
 प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेत् ?

महा—सत्यादि शब्द तो  
 अनृतादि धर्मोंकी निवृत्तिके लिये हैं  
 और उनका विशेष्य ब्रह्म अत्यन्त  
 आदिके समान प्रसिद्ध नहीं है; अतः  
 "मृगत्वप्यात्मे स्तान् कर्त्ते  
 शिरपर आकाशशुक्लमकर मुकुट  
 धारण किये तथा हाथमें शशशृङ्गाका  
 धनुष लिये वह ब्रह्मका पुत्र जा  
 रहा है" इस श्लोकके समान इस  
 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यकी  
 शून्यार्थता ही प्राप्त होती है ।

न; तद्यगार्थत्वात् । विद्ये  
 पणत्वेऽपि सत्यादीनां उद्यगार्थ

समाधान—जहाँ, क्योंकि ये  
 [ सत्यादि ] उद्यग करनेके लिये हैं ।

प्राधान्यमित्यवोचाम । शून्ये हि  
 लक्ष्येऽनर्थकं लक्षणबचन लक्षणा  
 र्थत्वान्मन्यामह न शून्यार्थतेति ।  
 विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां  
 स्वाधारित्याग एव ।  
 शून्यार्थत्वे हि सत्यादि  
 शब्दानां विशेष्यनियन्तृत्वानुप  
 पत्तिः । सत्याद्यर्थैर्धर्मत्वे तु  
 तद्विपरीतधर्मशून्यो विशेष्येभ्यो  
 प्रत्ययो विशेष्यस्य नियन्तृत्वमुप  
 पद्यते । प्रत्ययशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थ  
 यानेव । सत्रानन्तशब्दोऽन्तबन्ध  
 प्रतिषेधद्वारेण विशेषणम् । सत्य  
 ज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणनैव  
 विशेष्ये भवतः ।

सत्यादि शब्द विशेषण होनेपर भी  
 उनका प्रधान प्रयोग कक्षगके क्रिये  
 होना ही है—यह हम पहले ही कह  
 चुके हैं । यदि लक्ष्य शून्य हो तब  
 तो उसका लक्षण बतलाना भी व्यर्थ  
 ही होगा । अतः लक्षणार्थ होनेके  
 कारण उनकी शून्यार्थता नहीं है—  
 ऐसा हम मानते हैं । विशेषणके  
 क्रिये होनेपर भी सत्यादि शब्दके  
 अपने अथवा त्याग से होता ही  
 नहीं है । यदि सत्यादि शब्दोंकी  
 शून्यार्थता हो तो वे अपने विशेष्यके  
 नियन्ता हैं—ऐसा नहीं माना जा  
 सकता । सत्यादि अपने अर्थवान्  
 होनेपर ही उनके द्वारा अपनेसे विपरीत  
 धर्मवाले विशेष्योंसे अपने विशेष्य शब्द  
 का नियन्तृत्व बन सकता है । 'प्रत्यय'  
 शब्द भी अपने अर्थसे अर्थवान् ही  
 है । तब [ सत्यादि तीन शब्दों ] में  
 'अन्त' शब्द उसके अन्तबन्धका  
 प्रतिषेध करनेके द्वारा उसका विशेषण  
 होता है तथा 'प्रत्यय' और 'ज्ञान'  
 शब्द तो अपने अपने समर्पणद्वारा  
 ही उसके विशेषण होते हैं ।

“तस्याद्य”

—“उस इस अर्थसे आकाश  
 इस सुतिमें 'आकाश'  
 प्रयोग करनेके ही क्रिये

रात्मैव ब्रह्म । “एतमानन्दमयमा  
त्मानमुपसंक्रामति” ( तै० उ०  
२।८।५ ) इति चात्मतां दर्शयति ।  
तत्रपदेशाच्च; “तत्सृष्ट्वा तदेवानु  
प्राविशत्” ( तै० उ० २।६।१ )  
इति च तस्यैव जीवरूपेण शरीर  
प्रवेशं दर्शयति । अतो वेदितुः  
स्वरूपं ब्रह्म ।

एव तर्थात्मत्वान्ज्ञानकर्तृ  
त्वम् । आत्मा ज्ञातेति हि  
प्रसिद्धम् । “सोऽकामयत्” ( तै०  
उ० २।६।१ ) इति च कामिनो  
ज्ञानकर्तृत्वान्ज्ञप्तिर्निर्देशयुक्तम् ।

अनित्यत्वप्रसङ्गाच्च । यदि  
नाम ज्ञप्तिर्मानमिति भावरूपता  
प्रसङ्गान्नाप्यनित्यत्वं प्रसज्येत  
पारतन्त्र्यं च । भास्यथानां  
कारणपद्यत्वात् । ज्ञानं च

क्रिया जानेके कारण ब्रह्म  
जाननेवालेका ब्रह्मा ही है । “इस  
आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता  
है” इस वाक्यसे श्रुति उसकी  
आत्मता दिखाती है तथा उसके  
प्रवेश करनेसे भी [ उसका आत्मत्व  
सिद्ध होता है ] । “उसे रचकर वह  
उसीमें प्रविष्ट हो गया” ऐसा कहकर  
श्रुति उसीका जीवरूपसे शरीरमें  
प्रवेश होना दिखाती है । अतः  
ब्रह्म जाननेवालेका स्वरूप ही है ।

इस प्रकार आत्मा होनेसे ता  
उसे ज्ञानकर कर्तृत्व सिद्ध होता है ।  
‘आत्मा ज्ञाता है’ यह बात तो  
प्रसिद्ध ही है । “उसने कामना की”  
इस श्रुतिसे कामना करनेवालेके  
ज्ञानकर्तृत्वकी सिद्धि होती है । अतः  
ब्रह्मका ज्ञानकर्तृत्व निश्चित होनेका  
कारण ‘ब्रह्म ज्ञप्तिमात्र है’ ऐसा कहना  
अनुचित है ।

इसके सिवा ऐसा माननेसे  
अनित्यत्वका प्रसङ्ग भी उपस्थित  
होता है । यदि ‘ज्ञान ज्ञप्तिको कहते  
हैं’ इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मकी  
भावरूपता मानी जाय तो भी  
उसका अनित्यत्व और पारतन्त्र्यका  
प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि  
जातुओंके जप करकेकी अपेक्षाजाने



धात्वर्थोऽथोऽस्यानित्यत्व पर  
सन्त्रता च ।

न, स्वरूपाभ्यतिरिक्तस्य कर्म

स्वोपचारात् । आ  
त्मन स्वरूपं जित्तिर्न

ततो व्यतिरिच्यतेऽथो नित्यैव ।

तथापि पुद्गेक्याधिलक्षणायाश्च

श्रुतादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणा-

मिन्या ये शब्दाधात्कारत्वभासाः

त आत्मविज्ञानस्य विषयमूला

उत्पद्यमाना एवात्मविज्ञानेन

ध्याता उत्पद्यन्ते । तस्मात्प्रत्म-

विज्ञानाप्रमासाश्च ते विज्ञान

शब्दवान्याश्च धात्वर्थमूला

आत्मन एव धर्मा विक्रियारूपा

इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते ।

यत्तु ब्रह्मणो विज्ञानं तत्

सवितृप्रकाशवदन्नुष्णवच्च ब्रह्म

स्वरूपाभ्यतिरिक्तं स्वरूपमेव तत् ;

हुआ करते हैं । ज्ञान भी धातुका  
वर्ण है, अत इसकी भी अनित्यता  
और परतन्त्रता सिद्ध होती है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है।  
क्योंकि ज्ञान ब्रह्मके स्वरूपसे अभिन्न  
है इस कारण उसका कर्मत्व केवल  
उपचारासे है । आत्माका स्वरूप जो  
‘इति’ है वह उससे व्यतिरिक्त  
नहीं है । अत वह (इति) नित्या  
ही है । तथापि यद्यु आत्माके द्वारा  
विरपरूपमें परिणत होनेवाली  
अपाभिरूप बुद्धिकी जो शब्दादिरूप  
प्रतीतियों हैं वे आत्मविज्ञानकी  
निकयमूला होकर उत्पन्न होती हैं  
आत्मविज्ञानसे ध्याता ही उत्पन्न  
होती हैं [ अर्थात् अपनी उत्पत्तिके  
समय उन प्रतीतियोंमें ही आत्म-  
विज्ञानसे प्रकाशित होनेकी योग्यता  
रहती है और आत्मविज्ञान उन्हें  
प्रकाशित करता रहता है ] ।  
अत वे धातुवर्ती वर्णमूला  
एव ‘विज्ञान’ शब्दवाच्य आत्म-  
विज्ञानकी प्रतीतियों आत्माका ही  
निकाररूप धर्म हैं—ऐसी अविवेकियों-  
द्वारा कल्पना की जाती है ।

किन्तु ब्रह्मका जो विज्ञान  
है वह सूर्यके प्रकाश तथा अग्निकी  
उष्णताके समान ब्रह्मके स्वरूपसे  
भिन्न नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप

न उत्कारणान्तरसन्धपेधम् ।  
नित्यस्वरूपत्वात् । सर्वभाषानां च  
तेनाविमक्तदेशकालत्वात् काला  
काशादिकारणत्वाच्च निरतिशय  
घुम्भत्वाच्च । न तस्यान्यदविश्वय  
सूक्ष्म न्यवहित विप्रकृष्टं भूत  
भवद्भविष्यद्भान्ति । तस्मात्सर्वं  
वदुमस ।

ही है, उसे किसी अन्य कारणकी  
अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह निर-  
संख्य है । तथा उस प्रकारसे सम्पूर्ण  
मायपदार्थोंके देश-काल अन्विष्ट हैं,  
और वह काल तथा आकाशादि  
का भी कारण एवं निरतिशय सूक्ष्म  
है, अतः ऐसी कोई सूक्ष्म, व्यवहित  
( व्यवधानवाली ), विप्रकृष्ट ( दूर )  
तथा भूत, मन्थित या कर्तमान  
वस्तु नहीं है जो उसके द्वारा जानी  
न जाती हो, इसलिये वह सब  
सब है ।

मन्त्रवर्णाद्य—“अपाणिपादो  
अवनो प्रहीता पश्यत्यसधुः स  
मृणोत्यकर्णः । स चेत्ति वर्यं न  
च तस्यास्ति बेधा तमादुरत्यं  
पुरुषं महान्तम्” ( दवे० उ० ३ ।  
१९ ) इति । “न हि विद्यातुर्वि  
द्यातर्विपरिलापो विद्यतऽविना  
शित्वाप तु तद्विद्वितीयमस्ति”  
( पृ० उ० ४ । ३ । ३० ) इत्यादि  
धुतेष । विद्यातृस्वरूपान्यतिरिक्ता-  
स्वरणादिनिमित्तानपेधत्वाच्च म  
द्यमो ज्ञानम्यरूपरसऽपि निरत्य

“वह बिना हाथ-पोंक ही वेगसे  
बटने और प्रहण करनेवाला है, बिना  
नेत्रके हा देखता है और बिना  
कर्णके ही सुनता है । वह सम्पूर्ण वेध  
मात्रको जानता है, उसे जाननेवाला  
और कोई नहीं है, उसे सर्वप्रथम परम-  
पुरुष कहा गया है ।” इस मन्त्रवर्ण-  
से तथा ‘अविनाशी होमके कारण  
विद्याताके क्षमका कभी शून्य नहीं  
होता और उससे मन्त्र कोई दूसरा  
भी नहीं है [ जो उसे देने ]”  
इत्यादि धुतियोंसे भी यही सिद्ध  
होता है । ज्ञान निरन्तररूपसे  
अन्विष्ट तथा इन्द्रियाि साधनोंकी  
अपेक्षासे रहित होनेके कारण ज्ञान-  
स्वरूप होनेपर भी सबका निरत्य

प्रसिद्धिरतो नैव धात्वर्थस्तद्  
क्रियारूपत्वात् ।

अत एव च न ज्ञानकर्तृ,  
तस्मादेव च न ज्ञानशब्दवाच्य  
मपि तद्ब्रह्म । तथापि उदाभास  
वाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञान-  
शब्देन उल्लेख्यतं न तूच्यते ।  
शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहित-  
त्वात् । तथा सत्यशब्देनापि । सर्व-  
विशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो  
वास्तवतासामान्यविषयेन सत्य-  
शब्देन उल्लेख्यते सत्यं ब्रह्मेति न  
तु सत्यशब्दवाच्यमेव ब्रह्म ।

एव सत्यादिशब्दा इतरतर  
संनिधावन्योन्यनियम्यनियाम-  
का सन्तः सत्यादिशब्दवाच्यता-  
तन्निवर्तक्य ब्रह्मणो लक्षणार्थस्य  
भवन्तीत्यतः सिद्धम् “यतो वाचो  
निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह”

मन्त्री प्रकार सिद्ध ही है । अत  
क्रियारूप न होनेके कारण वह  
( ज्ञान ) वास्तव्य वर्ण भी नहीं है ।

इसीश्रिये वह ज्ञानकर्ता भी नहीं  
है और इसीसे वह ब्रह्म 'ज्ञान'  
शब्दका वाच्य भी नहीं है । तो भी  
ज्ञानमात्रके वाचक तथा बुद्धि  
के धर्मविषयक 'ज्ञान' शब्दसे वह  
उल्लेखित होता है—कहा नहीं जाता  
क्योंकि वह शब्दकी प्रवृत्तिके हेतु  
मूल जाति आदि धर्मोंसे रहित है ।  
इसी प्रकार 'सत्य' शब्दसे भी  
[ उल्लेखे उल्लेखित ही किया जा सकता  
है ] । ब्रह्मका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषणों-  
से शून्य है, अतः वह सामान्यत  
सत्या ही विसृज्य विषय—वर्ण है  
ऐसे 'सत्य' शब्दसे 'सत्यं ब्रह्म' इस  
प्रकार केरूप उल्लेखित होता है—ब्रह्म  
'सत्या' शब्दका वाच्य ही नहीं है ।

इस प्रकार ये सत्यादि शब्द  
एक दूसरेकी सन्निधिसे एक-दूसरेके  
नियम्य और नियामक होकर  
सत्यादि शब्दोंके वाच्यार्थसे ब्रह्मको  
ब्रह्म रचनेवाले और उल्लेख्य उल्लेख्य  
करनेमें लपयोगी होते हैं । अत  
“जहाँसे मनके उल्लेख वाणी उसे

( सै० उ० २।४।१ ) “अ-  
निरुक्तेऽनिलयने” ( सै० उ० २।  
७।१ ) इति चावाप्यत्वं  
नीलोत्पलवदबाधार्थत्वं च  
ब्रह्मणः ।

तद्यथाख्याख्यातं ब्रह्म यो वेद  
प्राज्ञानात् विप्रानाति निहितं  
निर्वचनम् स्वितं गुहायाम् ।  
गूढतेः संवरणार्थस्य निगूढा  
अस्यां ज्ञानश्रेयसात्पदार्था इति  
गुहा पुष्टिः गूढत्वसां भोगा-  
पवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्यां  
परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योमन्याश्च  
श्रेऽन्याकृतास्ये । तद्वि परमं  
व्योम “एतस्मिन्नु सत्वधरे गार्गी-  
काशः” ( षु० उ० ३।८।११ )  
इत्यधरसनिकर्षात् । गुहायां

न पाकर लौट जाती है” “अ कहने  
योग्य और अनामितमें” इत्यादि  
धृतियोंके अनुसार ब्रह्मका सत्त्वादि  
गुणोंका अवाप्यत्व और नील-  
कमलके समान अवाक्यार्थत्व सिद्ध  
होता है ।\*

उपर्युक्त प्रकारसे व्याख्या किये  
इए उस ब्रह्मके जो पुरुष गुहामें  
निहित ( छिपा हुआ ) आनता  
है । संवरण अर्थात् आच्छादन अर्थ-  
नासे ‘गुहा’ धातुसे ‘गुहा’ शब्द  
निकलता है, इस ( गुहा ) में  
ज्ञान, श्रेय और सात्विक पदार्थ निगूढ  
( छिपे हुए ) हैं इसलिये ‘गुहा’  
बुद्धिका नाम है । अथवा उसमें  
भोग और अपवर्ग—ये पुरुषार्थ निगूढ  
अवस्थामें स्थित हैं; अतः गुहा है ।  
उसके भीतर परम—ब्रह्म व्योम—  
आकाशमें अर्थात् अव्यक्तआकाशमें,  
क्योंकि “हे गार्गी ! निश्चय इस  
अधरमें ही आकाश [ ओतप्रोत है ]”  
इस धृतिके अनुसार अधरकी  
सन्निधिमें होनेसे यह अव्यक्ताकाश

\* उत्तरप यह है कि वाप्य-वाचक-भाव ब्रह्मका बोध करनेमें समर्थ नहीं  
हो सकता; अतः ब्रह्म इन शब्दोंका वाप्य नहीं हो सकता और सम्पूर्ण देवकी  
निहितिके अधिष्ठानरूपसे अहित होनेके कारण यह नीलकमल आदिके समान  
गुण-गुणीकृत संवर्णवपक वाक्योंका भी अर्थ नहीं हो सकता ।

व्योम्नीति वा सामानाधिकरण्या-  
दभ्याकृताकाशमेव गुहा । तत्रा-  
पि निगूढा सर्वे पदार्थास्त्रिपु  
त्रालेषु कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वा-  
त् । तस्मिन्तन्निहितं ब्रह्म ।

हार्दमव तु परम व्योमेति  
न्याय्य विज्ञानाङ्गस्वेनोपासनाङ्ग-  
स्वेन व्योम्नो विषधितत्वात् ।  
“व्यो वै स बहिर्धा पुरुषादा-  
काशः” ( छा० उ० ३ । १२ ।  
७ ) “व्यो वै सोऽन्तःपुरुषः  
आकाशः” ( छा० उ० ३ । १२ ।  
८ ) “सोऽयमन्तर्हृदय आकाशः”  
( छा० उ० ३ । १२ । ९ )  
इति भ्रुत्पन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य  
व्योम्न परमत्वम् । तस्मिन्हार्दे  
व्याग्नि या बुद्धिर्गुहा तस्यां  
निहितं ब्रह्म तद्ब्रह्म्या विभक्त-  
तयापठम्यत इति । न ह्यन्यथा  
विशिष्टदेशकालसम्बन्धोऽस्ति ब्र  
ह्मणः सधमत्स्वाभिर्विशेषत्वात् ।

ही परमाकाश है । अथवा 'गुहायां  
व्याग्नि' इस प्रकार हम दोनों पदों-  
का सामानाधिकरण्य होनेके कारण  
आकाशको ही गुहा कहा गया है;  
क्योंकि सबका कारण और सूक्ष्मतर  
होनेके कारण उसमें भी तीनों  
काओंमें सारे पदार्थ छिपे हुए हैं ।  
उसीके भीतर ब्रह्म भी स्थित है ।

परन्तु मुक्तियुक्त तो यही है कि  
हृदयाकाश ही परमाकाश है; क्योंकि  
उस आकाशको विज्ञानाङ्ग यागी  
उपासनाके अङ्गरूपसे बतलाना यहाँ  
इष्ट है “जो आकाश इस [ शरीर  
संज्ञक ] पुरुषसे बाहर है” “जो  
आकाश इस पुरुषके भीतर है” “जो  
यह आकाश हृदयके भीतर है” इस  
प्रकार एक अन्य धृतिसे हृदयकाश-  
का परमत्व प्रसिद्ध है । उस हृदया-  
काशमें जो बुद्धिरूप गुहा है उसमें  
ब्रह्म निहित है; अर्थात् उस ( बुद्धि-  
वृत्ति ) से वह व्यावृत्त ( पूयक् )  
रूपसे स्पष्टतया उपलब्ध होता है,  
अन्यथा ब्रह्मका किन्ती, भी विशेष  
देश या कालसे सम्बन्ध नहीं है;  
क्योंकि वह सर्वगत और निकटोप है ।

स एव ब्रह्म विज्ञानन्किमि-  
 त्तमिति त्वाह—अश्नुते सुहृ-  
 एवैव सर्वाभिरवशिष्टान्क-  
 माभोगानित्यर्थः । किमसादादि  
 वस्युत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण नेत्याह ।  
 सह युगपदेकक्षणीपाकानेव  
 एक्योपलभ्या सवितृप्रकाशवत्  
 नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तया  
 यामबोधाम सत्यं ज्ञानमनन्त  
 मिति । एतच्चदुष्यते—ब्रह्मभा  
 सहेति ।

ब्रह्ममृतो विद्वान्ब्रह्मस्वरूपे  
 बंधं सर्वान्कामान्त्सहाश्लुते, न  
 यथोपाधिकृतेन स्वरूपजात्मना  
 वल्लभ्यकादिवत्प्रतिविम्बमृतन  
 सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापे  
 धांश्चक्षुरादिकरणापधांश्च कामान्  
 पर्यायेणाश्नुते लोकः; कथं तर्हि ?  
 यथोक्तेन प्रकारेण सर्वज्ञान सर्व

वह इस प्रकार ब्रह्मको जानने-  
 वाला क्या करता है ? इसपर श्रुति  
 कहती है—वह सम्पूर्ण अर्थात् नि-  
 शेय कामनाओं यानी इच्छित भोगों-  
 को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन्हें  
 भोगता है । तो क्या वह हमारे  
 दुम्हारे समान पुत्र एवं स्वर्गादि  
 भोगोंको क्रमसे भोगता है ? इसपर  
 श्रुति कहती है—नहीं, उन्हें एक  
 साथ भोगता है । वह एक ही क्षणमें  
 बुद्धिवृत्तिर आकाश हुए सम्पूर्ण  
 भोगोंको सूर्यके प्रकाशके समान  
 नित्य तथा ब्रह्मस्वरूपसे अतिम एक  
 ही उपलब्धिके द्वारा, जिसका हमने  
 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ऐसा निरूपण  
 किया है, भोगता है । 'ब्रह्मणा  
 सह सर्वान्कामान्श्लुते' इस वाक्यसे  
 यही अर्थ कहा गया है ।

ब्रह्ममृत विद्वान् ब्रह्मस्वरूपसे  
 ही एक साथ सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्त  
 कर लेता है । अर्थात् दूसरे जेग  
 जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित  
 सूर्यके समान जलमें लौपाधिक और  
 ससाठी अत्माके द्वारा चर्मोदि  
 निमित्तकी अपेक्षावाले तथा चक्षु  
 आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षासे कुछ  
 सम्पूर्ण भोगोंको क्रमशः भोगते हैं  
 उस प्रकार उन्हें नहीं भोगता । तो  
 फिर कैसे भोगता है ? वह उपर्युक्त

गतेन सर्वात्मना नित्यब्रह्मात्म  
स्वरूपेण धर्मादिनिमित्तानपेक्षां  
बहुरादिकरणनिरपेक्षां च सर्वा-  
न्कामान्सहैवास्तुत इत्यर्थः ।  
विपश्चिता मेधाविना सर्वात्मनः ।  
तद्धि वैपश्चित्यं यत्सर्वात्मत्वं तेन  
सर्वात्मस्वरूपेण ब्रह्मणास्तुत इति ।  
इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ।

सर्व एव वत्स्यर्थो ब्रह्मविदा-  
प्नोति परमिति ब्राह्मणवाक्येन  
सूत्रितः । स च सूत्रितोऽर्थः  
संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः ।  
पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः  
कर्तव्य इत्युचरत्तद्वृत्तित्वानीयो  
ग्रन्थ आरम्भते तस्माद्वा एतस्मा-  
द्वित्यादिः ।

तत्र च सत्यं ज्ञानमनन्तं  
एवं वाक्येन ब्रह्मेत्युक्तं मन्त्रादौ  
व्येति मीमांसते तस्मिन् सत्यं ज्ञान-  
मनन्तं चेत्पत आह । तत्र  
त्रिविधं ज्ञानान्त्यं देवतः कालतो  
पस्तुतमेति । तद्यथा देवतो-  
ऽनन्त आकाशः । न हि दृश्यस्तस्य

प्रकारसे सर्वज्ञ सर्वगत सर्वभक्त  
एवं नित्यब्रह्मात्मस्वरूपसे, धर्मादि  
निमित्तक) अपेक्ष से रहित तथा  
बहु आदि इन्द्रियोसे भी निरपेक्ष  
सम्पूर्ण भोगोको एक साथ ही प्राप्त  
कर लेता है—यह इसका तात्पर्य  
है । विपश्चित्—मेधावी अर्थात् सर्वात्म  
ब्रह्मरूपसे । ब्रह्मका जो सर्वात्म है  
वही तसर्वात्मविपश्चिता ( विद्वत्ता ) है ।  
उस सर्वात्मरूप ब्रह्मरूपसे ही यह  
सर्व भोगता है । मूकमें 'इति' शब्द  
मन्त्रकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ब्राह्मण-  
वाक्यद्वारा इस सम्पूर्ण वत्स्यार्थ अर्थ  
सूत्ररूपसे कहा दिया है । उस  
सूत्रमूल अर्थकी ही मन्त्रद्वारा संक्षेप-  
से व्याख्या कर ही गयी है । अब  
फिर उसीका अर्थ विस्तारसे निर्णय  
करना है—इसीलिये उसका वृत्तिरूप  
'तस्माद्वा एतस्माद्' इत्यदि आगेका  
मन्त्र आरम्भ किया जाता है ।

उस मन्त्रमें सबसे पहले 'सत्यं  
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ऐसा कहा है । यह  
सत्य, ज्ञान और अनन्त किस प्रकार  
है । सो कतनाते हैं—अनन्तका  
तीन प्रकारकी है—देखते, कहते  
और बस्तुसे । उनमें दोसे आकाश  
देखत अनन्त है । उसका २ से

परिच्छेदोऽस्ति । न तु काल-  
तथानन्त्यं वस्तुतथाकाशस्य ।  
कस्मात्कार्यत्वात् । नैवं ब्रह्मण  
आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वम-  
कार्यत्वात् । कार्यं हि वस्तु  
कालेन परिच्छिद्यते । अकार्यं  
च ब्रह्म । तस्मात्कालतोऽस्त्वा-  
नन्त्यम् ।

परिच्छेद नहीं है । किन्तु कालसे  
और वस्तुसे आकाशकी अनन्तता  
नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि वह  
कार्य है । किन्तु आकाशके समान  
किसीका कार्य न होनेके कारण  
ब्रह्मका इस प्रकार कालसे भी  
अन्तवत्त्व नहीं है । जो वस्तु किसी-  
का कार्य होती है वही कालसे  
परिच्छिन्न होती है । और ब्रह्म  
किसीका कार्य नहीं है, इसलिये  
उसकी कालसे अनन्तता है ।

तथा वस्तुतः । कार्यं पुनर्वस्तुतः  
आनन्त्यं सर्वानन्त्यत्वात् । भिन्नं हि  
वस्तु वस्तुन्तरस्यान्तो भवति,  
वस्तुन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद्वस्तु-  
न्तरान्निवर्तते । यतो यस्य बुद्धे  
र्भिनिवृत्तिः स तस्यान्तः । तद्यथा  
गोत्वबुद्धिरभत्वादिनिवर्तत इति  
अश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव  
भवति । स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु  
पटः । नैवं ब्रह्मणो मेदः । अतो  
वस्तुतोऽप्यानन्त्यम् ।

इसी प्रकार वह वस्तुसे भी  
अन्त है । वस्तुसे उसकी अनन्तता  
किस प्रकार है ? क्योंकि वह सबसे  
अभिन्न है । भिन्न वस्तु ही किसी  
अन्य भिन्न वस्तुका अन्त हुआ  
करती है । क्योंकि किसी भिन्न वस्तुमें  
गयी हुई बुद्धि ही किसी अन्य प्रसक्त  
वस्तुसे निवृत्त की जाती है । जिस  
[ पदार्थसम्बन्धिनी ] बुद्धिकी जिस  
पदार्थसे निवृत्ति होती है वही उस  
पदार्थका अन्त है । जिस प्रकार  
गोत्वबुद्धि अश्वत्वबुद्धिसे निवृत्त होती  
है, वही गोत्वका अन्त अश्वत्व हुआ,  
इसलिये वह अन्तधान ही है और  
उसका वह अन्त भिन्न पदार्थोंमें ही  
देखा जाता है । किन्तु ब्रह्मका ऐसा  
कोई अन्त नहीं है । अतः वस्तुसे  
भी उसकी अनन्तता है ।



कथं पुनः सर्धानन्यत्यं ब्रह्मण  
 मय्यं चार्त्तं इत्युच्यते—सर्व  
 विकल्पे षस्तुकारणत्वात् ।  
 सर्वेषां हि वस्तुनां कालाकाशा-  
 दीनां कारणं ब्रह्म । कारणपिष्टमा  
 षस्तुतोऽन्तवश्वमिति चन्न  
 अनृतत्वात्कार्यवस्तुनः । न हि  
 कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम  
 वस्तुवाऽस्ति यत् कारणशुद्धि  
 विनिर्बोत । “वाचारम्भणं वि  
 कारो नामधेयं मृषिकेत्येष  
 सत्यम्” ( छा० उ० ६ । १ ।  
 ४ ) एवं सदेव सत्यमिति धृत्य  
 न्वरात् ।

तस्मादाकाशादिकारणत्वादे  
 घृतस्तावदनन्तं ब्रह्म । आकाशो  
 ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देखतः,  
 तस्येदं कारणं तस्मात्प्रसिद्धं देखत  
 आत्मन आनन्त्यम् । न ह्यसर्व  
 गतास्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके  
 किंचिद् दृश्यते । अतो निरति  
 श्रयमात्मन आनन्त्यं देखतस्तथा

किन्तु ब्रह्मकी सबसे वभिन्नता  
 किस प्रकार है ? सो कहते हैं—  
 क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तुलोक  
 कारण है—ब्रह्म काकाशा आदि  
 सभी वस्तुलोक कारण है । यदि  
 कहो कि अपने कार्यकी अपेक्षासे  
 तो उसका वस्तुसे अन्तवश  
 हो ही जायगा, तो ऐसा कहना  
 ठीक नहीं, क्योंकि कार्यरूप वस्तु  
 तो मिथ्या है—वस्तुतः कारणसे भिन्न  
 कार्य ही नहीं जिससे कि कारण  
 शुद्धिकी निवृत्ति हो “वाणीसे आरम्भ  
 होनेवाला विकार केवल नाममात्र  
 है, मृत्तिकर ही सत्य है” इसी  
 प्रकार “सत् ही सत्य है”—ऐसा  
 एक अन्य धृतिसे भी सिद्ध होता है ।

अत आकाशादिकारण  
 होनेसे ब्रह्म देशसे भी अनन्त है ।  
 आकाश देशत अनन्त है—यह तो  
 प्रसिद्ध ही है, और यह उसका  
 कारण है अतः आत्माका देशतः  
 अनन्तत्व सिद्ध ही है; क्योंकि  
 लोकमें अस्वीगत वस्तुसे कोई स्वीगत  
 वस्तु उत्पन्न होती नहीं देखी जाती ।  
 इसलिये आत्माका देशत अनन्तत्व  
 निरतिशय है [ अर्थात् उससे कहा  
 और कोई नहीं है । ] इसी प्रकार

कार्पस्यात्कालतः, तस्मिन्मन्त्रे  
न्तराभावात् वस्तुतः । अत एव  
निरतिशयसत्यत्वम् ।

तस्मादिति मूलवाक्यस्य त्रितं

ब्रह्म परामृश्यते ।

शीघ्रम्

एतस्मादिति मन्त्र

वाक्येनान्तरं यथालक्षितम् ।

यद्ब्रह्मादौ ब्राह्मणवाक्येन सत्रितं

यच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्य

नन्तरमेव लक्षितं तस्मादेतस्मा

द्ब्रह्म आत्मन आत्म-

शब्दवाच्यात् । आत्मा हि

तत्सर्वस्य "तत्सत्यं स आत्मा"

( छा० उ० ६ । ८-१६ ) इति

श्रुत्यन्तरात्ततो ब्रह्मात्मा । तस्मा-

देतस्माद्ब्रह्मण्य आत्मस्वरूपात्का-

शः संभूतः समुत्पन्नः ।

आकाशो नाम शब्दगुणोऽथ

काशकरो मूर्तद्रव्याणाम् । तस्मात्

किंसीका कार्यं न होमेके कारण वह  
काकत और उससे भिन्न पदार्थका  
सर्वथा अभाव होनेके कारण वस्तुत  
भी अनन्त है । इसलिये आत्माका  
सबसे बड़कर सत्यत्व है ।\*

[ मन्त्रमें ] 'तस्मात्' ( उससे )

इस पदवाक्य मूलवाक्यमें सूत्र

रूपसे कहे हुए 'ब्रह्म' पदका

परामश किया जाता है । तथा इसके

अनन्तर 'एतस्मात्' इत्यादि मन्त्र-

वाक्यसे भी पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका ही

उल्लेख किया गया है । [ तात्पर्य यह

है—] जिस ब्रह्मका पहले ब्राह्मण

वाक्यद्वारा सूत्ररूपसे उल्लेख किया

गया है और जो उसके पश्चात्

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार

लक्षित किया गया है उस इस ब्रह्म

—ब्रह्मसे अर्थात् 'आत्मा' शब्द

वाक्य ब्रह्मसे—क्योंकि 'एतत् सत्यं स

आत्मा' इत्यादि एक वाक्य श्रुतिके

अनुसार वह सबका आत्मा है; अत

यहाँ ब्रह्म ही आत्मा है—उस इस

आत्मस्वरूप ब्रह्मसे आकाश समूत-

उत्पन्न हुआ ।

जो शब्द-गुणवाक्य और समस्त

मूर्त पदार्थोंको अणुकाश देनेवाला है

उसे 'आकाश' कहते हैं । उस

\* क्योंकि जो वस्तु अनन्त होती है वही सत्य होती है परिच्छिन्न पदार्थ  
कभी सत्य नहीं हो सकता ।

आकाशास्त्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेषु  
 च कारणगुणेन घन्देन त्रिगुणो  
 वायुः सम्भूत इत्यनुवर्तते ।  
 वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाम्नां  
 च त्रिगुणाऽग्निः सम्भूत । अग्नेः  
 स्वेन रसगुणेन पूर्वेषु त्रिभिश्चतु  
 र्गुणा आपः समूताः । अद्रुम्यः  
 स्वेन गन्धगुणेन पूर्वेषु चतुर्भिः  
 पञ्चगुणा पृथिवी समूता । पृथि  
 म्या ओपधयः । ओपधीम्यो-  
 ऽन्नम् । अन्नान्नेरौ रूपेण परिणतत्  
 पुरुषः शिरःपाश्चाद्याकृतिमान् ।  
 स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयो-  
 ऽन्नरसविकारः । पुरुषाकृति  
 मावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेभ्यः  
 संभूतं रेतो बीजम् ; तस्माद्यो  
 आपते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव  
 स्यात् । सर्वजातिषु जायमानानां

आकाशासे अपने गुण 'स्पर्श' और  
 अपने पूर्ववर्ती आकाशके गुण  
 'शब्द' से युक्त ही गुणवाला वायु  
 उत्पन्न हुआ । यहाँ प्रथम वाक्यके  
 'सम्भूत' ( उत्पन्न हुआ ) इस  
 किया पदकी [ सर्वत्र ] अनुवृत्ति की  
 जाती है । वायुसे अपने गुण 'रूप'  
 और पहले दो गुणोंके सहित तीन  
 गुणवाला अग्नि उत्पन्न हुआ । तथा  
 अग्निसे अपने गुण 'रस' और  
 पहले तीन गुणोंके सहित चार  
 गुणवाला जल हुआ । और जलसे  
 अपने गुण 'गन्ध' और पहले चार  
 गुणोंके सहित पाँच गुणवाली पृथिवी  
 उत्पन्न हुई । पृथिवीसे ओषधियों,  
 ओषधियोंसे जन्न और बीजरूपमें  
 परिणत हुए जन्नसे शिर तथा हाथ-  
 पाँवके वास्तुविशेष पुरुष उत्पन्न  
 हुआ ।

यह यह पुरुष अन्नरसमय अर्थात्  
 अन्न और रसके विकार है ।  
 पुरुषाकारसे आवृत [ अर्थात् पुरुष-  
 के आकारकी वास्तुनासे युक्त ] तथा  
 उसके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ  
 तेजोरूप जो स्रष्टा है वह उत्पन्न  
 बीज है । उससे जो उत्पन्न होय  
 है वह भी उसीके समान पुरुषाकार  
 ही होता है, क्योंकि सभी जातियोंमें  
 उत्पन्न होनेवाले वेदोंमें पिताके

अनन्तरकृतिनियमदर्शनात् ।

सर्वेषामप्यन्तरसधिकारस्वे

प्रब्रह्मवश्यत्वे चाविशिष्टे कस्मात्पुरुष

एव गृह्यते ?

प्राधान्यात् ।

किं पुनः प्राधान्यम् ?

कर्मज्ञानाधिकारः । पुरुष एव

अन्तरिकं हि शक्तत्वात्

अन्तरिकं चित्त्वात्पर्युक्त-

त्वाच्च कर्मज्ञानयोरेधिक्रियते—

“पुरुषे त्वेषाविस्तरामात्मा स

हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं

वदति विज्ञातं पश्यति वेद

अस्तर्न वेद लोकलोकौ मर्त्ये-

नामृतमीषठीत्येवं संपन्नः ।

अर्धेतरेषां पशुनामस्यनायापिपासे

एवाभिविज्ञानम् ।” इत्यादि

श्रुत्यन्तरदर्शनात् ।

समान जाहति होनेका नियम देखा जाता है ।

सङ्गा—सृष्टिमें सभी शरीर समान रूपसे अन्न और रसके निकार तथा मखाके बशमें उत्पन्न हुए हैं, फिर यहाँ पुरुषको ही क्यों प्रहण किया गया है ?

समाधान—प्रधानताके कारण ।

सङ्गा—उसकी प्रधानता क्या है ?

समाधान—कर्म और ज्ञानका अधिकार ही उसकी प्रधानता है ।

[ कर्म और ज्ञानके साधनमें ]

समर्थ, [ उनके फलकी ] इन्द्रमाया

और उससे उदासीन न होनेके

कारण पुरुष ही कर्म और ज्ञानका

अधिकारी है । “पुरुषमें ही अस्मान्तर

पूर्णतया आविर्भाव हुआ है; यही

प्रहण ज्ञानसे सबसे अधिक उत्पन्न

है । वह जामी-मूखी बात कहता है,

जाम-मूखे पदासीको देखता है, वह

कल होनेवाली बात भी जान सकता

है, उसे उचम और अचम अनेकोंका

ज्ञान है तथा वह कर्म-ज्ञानरूप

मन्त्र साधनके द्वारा अमर पदकी

इष्टा करता है—इस प्रकार वह

विवेकसम्पन्न है । उसके सिवा

अन्य पशुओंकी तो केवल मूख-

प्यासका ही विशेष ज्ञान होता है”

ऐसी एक बृहती श्रुति देखनेसे भी ( पुरुषकी प्रधानता सिद्ध होती है ) ।—

स हि पुरुष इह विद्यमान्तर  
 तमं ब्रह्म सक्रामयितुमिष्टः । तस्य  
 च भासाकारविद्युपेष्वनात्मस्वा  
 त्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विक्षेपं  
 कंचित्त्वहसान्तरतमप्रत्यगारम-  
 विषया निरालम्बना च कर्तु-  
 मशक्येति दृष्टशरीरारमसामान्य  
 कल्पनया ज्ञात्वाचन्द्रनिदर्शन-  
 वदन्तः प्रवेशयन्नाह—

तस्येदमेव शिरः । तस्यास्य

पञ्चममन्त्र पुरुषस्याभरसमय

मन्त्र शिरःस्येदमेव शिरः

प्रसिद्धम् । प्राणमयादिष्वशिरसां

शिरस्त्वदर्शनादिहापि तत्प्रसङ्गे

मा भूदितिमेव शिर इत्युच्यते ।

एवं पश्चादियु योचना । अयं

उस पुरुषको ही यहाँ ( इस  
 बङ्गीमें ) दिवाके द्वारा सबकी अपेक्षा  
 अन्तरतम ब्रह्मके पास के जाना  
 जमीद है । किन्तु उसकी बुद्धि,  
 जो बासाकार विशेषरूप अनात्म-  
 पदार्थोंमें आत्मभावना किये हुए है,  
 किन्तु विशेष आलम्बनके बिना  
 एकएक सबसे अन्तरतम प्रत्यग्य-  
 सम्बन्धिनी तथा निरालम्बना  
 की जानी असम्भव है; फलतः इस  
 दिक्छापी देनेवाले शरीररूप आत्मा-  
 की समानताकी कल्पनासे ज्ञात्वा  
 चन्द्र दृष्टान्तके समान उसका  
 भीतरकी ओर प्रवेश कराकर मुक्ति  
 कहती है—

उसका यह [ शिर ] ही शिर है ।

उस इस अन्तरतम पुरुषका यह  
 प्रसिद्ध शिर ही [ शिर है ] ।

[ ज्ञानके अनुवाक्यों ] प्राणमय आदि  
 शिररहित कोशोंमें भी शिरस्त्व रेखा  
 अपनेके कारण यहाँ भी बही बात  
 न समझी जाय [ क्योंकि इस अन्तम  
 कतराको भी वस्तुतः शिररहित न  
 समझ जाय ] इसलिये यह प्रसिद्ध  
 शिर ही असका शिर है—यैसा कहा  
 जाता है । इसी प्रकार पश्चादिके  
 विषयोंमें ज्ञा ज्ञेया आदिये । पूर्वोक्ति-

दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य  
 दक्षिणः पक्षः । अयं सन्धो बाहु  
 उत्तरः पक्षः । अयं सन्धो देह  
 भाग आत्माङ्गनाम् । “सन्धं  
 क्षपामङ्गनामात्मा” इति श्रुतेः ।  
 इदमिति नामेरधस्ताद्यदङ्गं  
 तस्युच्छ प्रतिष्ठा । प्रतिष्ठित्यन-  
 वेति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छम्  
 अधोलम्बनसामान्याद्यथा गोः  
 पुच्छम् ।

एतत्प्रकृत्योचरेषां प्राणमया-  
 दीनां रूपकत्वसिद्धिः, मूपानिषि-  
 क्तद्वयताप्रतिमावत् । तदप्येष  
 श्लोको मन्त्रि । तत्तस्मिन्नेवार्थे  
 ब्राह्मणोक्तऽक्षमयारम्भकाशुक्त  
 एष श्लोका मन्त्रो मन्त्रि ॥१॥

मुख स्यक्तिका यह दक्षिण [ दक्षिण  
 दिशाकी ओरका ] बाहु दक्षिण  
 पक्ष है, यह बायें बाहु उत्तर पक्ष  
 है तथा यह देहका मध्यभाग अङ्गो-  
 का आत्मा है, जैसा कि “मध्यभाग  
 ही इन अङ्गोंका आत्मा है” इस  
 श्रुतिसे प्रमाणित होता है । और  
 यह जो नाभिसे नीचेका अङ्ग है  
 नहीं पुच्छ—प्रतिष्ठा है । इसके  
 द्वारा यह स्थित होता है, इसलिये यह  
 उसकी प्रतिष्ठा है । नीचेकी ओर  
 लटकनेमें समानता होनेके कारण  
 यह पुच्छके समान पुच्छ है, जैसे  
 कि गौकी पूँछ ।

इस अन्नमय कोशसे आरम्भ  
 करके ही सर्वेमें ब्रह्मे हुए विपद्ये  
 लौकिकी प्रतिमाके समान आगेके  
 प्राणमय आदि कोशोंके रूपकत्वकी  
 सिद्धि होती है । उसका निष्पत्ते ही  
 यह श्लोक है, अर्थात् अन्नमय  
 आरमाको प्रकाशित करनेवाले उस  
 ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही यह श्लोक  
 अर्थात् मन्त्र है ॥ १ ॥

## द्वितीय अनुवाक

अन्नस्य महिमा तथा प्राणस्य श्रेयश्च वर्णन

अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते । या काश्च पृथिवीश्च  
 त्रिता अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्य  
 न्तत । अन्नश्चि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते ।  
 सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नश्चि  
 भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद्भूतानि  
 जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि ।  
 तस्मादन्नं तदुच्यते इति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयाद्य  
 न्शोऽन्तर आत्मा प्राणमय । तेनैव पूर्णः । स वा एष  
 पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वय पुरुषविधः ।  
 तस्य प्राण एव शिर । व्यानो दक्षिण पक्षः । अपान  
 उत्तर पक्ष । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
 तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

अन्नसे ही प्रजा उत्पन्न होती है । जो कुछ प्रजा पृथिवीको आश्रित  
 करके स्थित है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है, फिर वह अन्नसे ही  
 जीवित रहती है और अन्नमें सहीमें जीम हो जाती है, क्योंकि अन्न  
 ही प्राणियोंका ज्येष्ठ ( अग्रज—पहले उत्पन्न होनेवाला ) है । इसीसे  
 वह सर्वोपक कहा जाता है । जो लोग 'अन्न ही ब्रह्म है' इस प्रकार  
 ठगसना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं । अन्न ही  
 प्राणियोंमें बड़ा है, इसलिये वह सर्वोपक कहलाता है । अन्नसे ही प्राणी  
 उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होकर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं । अन्न

प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह भी उन्हींको खाता है । इसीसे वह 'जल' कहा जाता है । उस इस अन्नरसमय पिण्डसे, उसके भीतर रहनेवाले दूसरा शरीर प्राणमय है । उसके द्वारा यह ( यह अन्नमय कोश ) परिपूर्ण है । वह यह ( प्राणमय कोश ) भी पुरुषाकार ही है । उस ( अन्नमय कोश ) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है । उसका प्राण ही मिर है । व्यास दक्षिण पक्ष है । अपान उत्तर पक्ष है । आकाश अग्रमा ( मध्यमा ) है और पृथिवी पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसके नियमों ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

अन्नाद्वासादिभावपरिणतात्,  
 वा इति सरकार्थः,  
 प्रजा स्यात्परजङ्ग-  
 माः प्रजायन्ते । याः क्वाभा  
 विशिष्टाः पृथिवी भिताः पृथि  
 बीमाभितास्ता सर्वा अन्नाद्व  
 प्रजायन्ते । अयो अपि जाता  
 अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धार  
 यन्ति वर्षन्त इत्यर्थः । अयाप्ये  
 नदक्षमपियन्त्यपिगच्छन्ति ।  
 अपिशब्दः प्रतिशब्दार्थे ।  
 अन्नं प्रति प्रलीयन्त इत्यर्थः ।  
 अन्ततोऽन्ते जीवनलक्षणया  
 वृत्तेः परिसमाप्तौ ।

कस्मात् ? अन्नं हि यस्माद्  
 मृतानां प्राणिनां न्येष्ये प्रथमजम् ।  
 अन्नमयादीनां हीतरपां मृतानां

रसादिरूपमें परिणत हुए अन्नसे ही स्थावर जङ्गमका प्रजा उत्पन्न होती है । वे यह निपात स्मरणके अर्थमें हैं । जो कुछ प्रजा अविशेष भावसे पृथिवीको आविष्ट किये हुए हैं वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है । और फिर उत्पन्न होकर वह अन्नसे ही जीवित रहती—प्राण धारण करती अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होती है । और अन्तमें—जीवनरूप वृद्धिकी समाप्ति होनेपर वह अन्नमें ही व्थिम हा जाती है । [ 'अपियन्ति' इसमें ] 'अपि' शब्द 'प्रति' के अर्थमें है । अर्थात् वह अन्नके प्रति ही अन्न हो जाती है ।

इसका कारण क्या है ? क्योंकि अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ यानी अन्न है । अन्नमय आदि जो इतर प्राणी हैं उनका कारण अन्न ही है ।



कारणमभमतोऽभप्रभवा अभ  
 भीषना अभप्रलयाभ सुवाः प्रवाः ।  
 यसाञ्चैव तस्मात्सर्वोपधं सर्व  
 प्राणिनां देहदाहप्रलयनमक-  
 मुष्यत ।

अभप्रभविदः फलमुष्यते—

सर्वे वै ते समस्तमभमात-  
 मान्नुवन्ति । क ? येऽन्नं ब्रह्म  
 यथोक्तमुपासते । कथम् ? अभमो  
 ऽभात्माभप्रलयोऽहं तस्मादन्नं  
 प्रयति ।

इतः पुनः सर्वाभप्राप्तिफल-  
 मभाभोपासनमित्युच्यते । अन्नं  
 हि मृतानां नष्टम् । मृतेभ्यः  
 पूर्वं निष्पन्नस्वारज्यपटं हि यसा-  
 चसारसर्वोपधमुष्यत । तस्मादुप  
 पन्ना सर्वाभारमोपासकस्य सर्वा  
 भप्राप्तिः मन्नादृतानि चापन्त ।

इसलिये सम्पूर्ण प्रवा जन्मसे उत्पन्न  
 होनेवाली, जन्मके द्वारा वीक्षित  
 रहनेवाली और जन्ममें ही क्षीम हो  
 जानेवाली है । क्योंकि ऐसी बात  
 है, इसलिये जन्म सर्वोपध—सम्पूर्ण  
 प्राणियोंके देहके सन्तानको शान्त  
 करनेवाला कहा जाता है ।

जन्मरूप ब्रह्मकी उपासना करने  
 वालेको [ प्राप्तम् ] फल कतछाया  
 जाता है—ने निश्चय ही सम्पूर्ण जन्म-  
 सन्तानको प्राप्त कर लेते हैं । कौन !  
 जो उपर्युक्त जन्मकी ही ब्रह्मरूपसे  
 उपासना करते हैं । किस प्रकार  
 [ उपासना करते हैं ] इस तरह कि  
 मैं जन्मसे उत्पन्न, ब्रह्मस्वरूप और  
 जन्ममें ही क्षीम हो जानेवाला हूँ,  
 इसलिये जन्म ब्रह्म है ।

‘जन्म ही ब्रह्मा है’ इस प्रकारकी  
 उपासना किस प्रकार सम्पूर्ण जन्मकी  
 प्राप्तिरूप फलवाली है, सो बतलाते  
 हैं—जन्म ही प्राणियोंका व्येष्ट है—  
 प्राणियोंसे पहले उत्पन्न होनेके  
 कारण, क्योंकि वह उनसे ग्रेष्ठ है,  
 इसलिये वह सर्वोपध कहा जाता है ।  
 जब सम्पूर्ण जन्मकी आत्मारूपसे  
 उपासना करनेवालेके लिये सम्पूर्ण  
 जन्मकी प्राप्ति उचित ही है । जन्मसे  
 प्राणी उत्पन्न होने हैं और उत्पन्न

अज्ञानान्नेन बध्नन् इत्युपसंहारार्थं पुनर्वचनम् ।

इदानीमज्ञाननिर्बन्धनमुच्यते—

अज्ञानं अघसं मुच्यते कैवलीनिर्बन्धनं यद्गुरोरज्ञमपि च मृतानि स्वयं तस्मान्मूर्खैर्बन्धमानत्वाद्भूतमाकर्तृत्वात्त्वान्नं तदुच्यते । इतिशब्दः प्रथमकोशपरिसमाप्त्यर्थः ।

अज्ञमपादिभ्य आनन्दमवा-

न्तुम्य आत्मम्यो-  
क्तिर्यः उच्यन्तरतमं ब्रह्म

विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषुः साक्षात्प्रविधात्तत्पञ्चक्यादापनयेनामकतुपकोद्रवित्तुपीकरणेनेव तदन्तर्गततद्गुलान् प्रस्तौषि तस्माद्वा एतस्माद्भरसमवाहित्यादि ।

तस्मादेतस्मात्प्रथोक्तदभरस-

मयास्तिष्ठद्दन्व्यो-  
मिथेक्यन् व्यतिरिक्तोऽन्तरो-

उच्यन्तर आत्मा पिण्डबद्ध मिथ्या

इत्येव अज्ञस्य ही इतिशब्दे प्राप्त होते हैं—यह पुनरुक्ति उपासनाके उपसंहारके लिये है ।

जब 'अज्ञ' शब्दकी व्युत्पत्ति कही जाती है—जो प्राणियोंद्वारा 'अज्ञते'—संज्ञा जाता है और जो ज्ञप मी प्राणियोंको 'अज्ञि' जाता है, इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंका मोक्ष और उनका मोक्षा होमेके कारण मी यह 'अज्ञ' कहा जाता है । इस वाक्यमें 'भूति' शब्द प्रथम कोसके विवरणकी परिसमाप्तिके लिये है ।

अनेक गुणगोवाले जनोंको उपरहित करके जिस प्रकार चावल निकाल लिये जाते हैं उसी प्रकार अज्ञमयसे अज्ञानमय कोस पर्यन्त सम्पूर्ण शरीरोंकी अपेक्षा आन्तरतम ब्रह्मको विद्याके द्वारा जपने प्रत्यात्मरूपसे दिव्यज्ञानकी इच्छा बाधा धारण अविद्याकर्मियत पाँच कोशोंका नाश करता हुआ तत्पश्चात् एतस्मादन्तरसमायात् इत्यादि वाक्यसे आरम्भ करता है—

उस इस पूर्वोक्त अज्ञरसमय पिण्डसे जन्म पानी पृथक और उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो अज्ञरसमय पिण्डके समान मिथ्या ही आत्मारूपसे कल्पना किया हुआ

परिकल्पित आत्मरवेन प्राणमयः  
 प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्राणः । तेन  
 प्राणमयेनाम्बरसमय आत्मैव पूर्णो  
 वायुनेव इतिः । स वा ण्य प्राण-  
 मय आत्मा पुरुषविध एव पुरुषा-  
 स्त्वर एव, शिरःपद्मादिभिः ।

किं स्वत एव, नेत्याह ।  
 प्राणमयस्य प्रसिद्धं तावदम्बरस  
 पुरुषविधमयस्वात्मनः पुरुष-  
 विधत्वम् । तस्याम्बरसमयस्य पुरुष-  
 विधतां पुरुषाकृततामनु अर्धं  
 प्राणमयः पुरुषविधो मूपानिपित्त-  
 प्रतिमावन्न स्वत एव । एवं पूर्वस्य  
 पूर्वस्य पुरुषविधतामनुच्छ्रातरः  
 पुरुषविधो भवति एवं पूर्व  
 श्रोत्रोच्छरेण पूर्ण ।

कथं पुनः पुरुषविधतास्य  
 इत्युच्यते । तस्य प्राणमयस्य प्राण  
 एव शिरः । प्राणमयस्य वायु  
 विकारस्य प्राणो मूत्रनासिका-  
 निःसरणा वृत्तिविधेयः शिर एव

है, प्राणमय है । प्राण—वायु उससे  
 युक्त अर्थात् तत्प्राय [ यानी उसमें  
 प्राणकी ही प्रधानता है ] । जिस  
 प्रकार वायुसे भौकनी मरी रहती है  
 उसी प्रकार उस प्राणमयसे यह  
 अम्बरसमय शरीर मग हुआ है ।  
 यह यह प्राणमय आत्मा पुरुषविध  
 अर्थात् शिर और पद्मादिके कारण  
 उठनाकर ही है ।

क्या यह बात ही पुरुषाकार  
 है ? इसपर कहते हैं—नहीं,  
 अम्बरसमय शरीरकी पुरुषाकारता ही  
 प्रसिद्ध ही है, उस अम्बरसमय-  
 की पुरुषविधता—पुरुषाकारताके  
 अनुसार सोचेमें दही हुई प्रतिमाके  
 समान यह प्राणमय कोश भी  
 पुरुषाकार है—स्वतः ही पुरुषाकार  
 नहीं है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी  
 पुरुषाकारता है और उसके अनुसार  
 पीछे-पीछेका कोश भी पुरुषाकार है  
 तथा पूर्व-पूर्व कश पीछे-पीछेके  
 कोशसे पूर्ण ( मग हुआ ) है ।

इसकी पुरुषाकारता किस प्रकार  
 है ? सो बातकभी जाती है—उस  
 प्राणमयका प्राण ही शिर है ।  
 वायुके विकारकय प्राणमय कोशका  
 मुख और नासिकासे निकलनेवाला  
 प्राण, जो मुख्य प्राणकी वृत्तिविधेय  
 है, श्रुतिके बचनानुसार शिरकयसे ही

परिकल्प्यते वचनात् । सर्वप्र  
 वचनादेश पक्षादिकल्पना ।  
 ध्यानो ध्यानवृत्तिर्दक्षिण पक्षः ।  
 अपान उत्तरः पक्ष । आकाश  
 आत्मा य आकाशस्यो वृत्ति  
 विज्ञेय समानारभ्यः स आत्मेवा  
 त्मा; प्राणवृत्त्यधिकारात् ।  
 मध्यम्यत्वादितरा पर्यन्ता वृत्ती  
 रपक्ष्यात्मा । “मध्य धोपामङ्गा  
 नामात्मा” इति श्रुतिप्रसिद्ध  
 मध्यमम्यस्यारमत्वम् ।

पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा ।  
 पृथिवीति पृथिवीदशताभ्यास्मि  
 कस्य प्राणस्य धारयित्री स्थिति  
 हेतुत्वात् । “संपा पुरुषस्यापान  
 मषष्टम्य” (प्र० उ० ३ । ८) इति हि  
 श्रुत्यन्तरम् । अन्यथोदानवृत्त्यो  
 र्ध्वगमनं गुरुत्वान्ध पतनं वा  
 स्याच्छरीरस्य । तस्मात्पृथिवीदेवता  
 पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमपस्यात्मनः ।  
 तत्तन्मिन्नेवार्थे प्राणमपारमविषय  
 एव श्रद्धा भवति ॥ १ ॥

कल्पना क्रिया जाता है । इसके  
 सिवा आगे भी श्रुतिके वचनानुसार  
 ही पक्ष आदिकी कल्पना की गयी  
 है । ध्यान अर्थात् ध्यान नामकी  
 वृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर  
 पक्ष है, आकाश आत्मा है । यहाँ  
 प्राण वृत्तिकर अविकर होनेके कारण  
 [ 'आकाश' शब्दसे ] आकाशमें  
 स्थित जो समानसंज्ञक प्राणकी  
 वृत्ति है वही आत्मा है । अपने  
 आसपासकी अन्य सब वृत्तियोंकी  
 अपेक्षा मध्यवर्तिनी होनेके कारण  
 यह आत्मा है । ' इन अङ्गोंका मध्य  
 आत्मा है' इस श्रुतिके मध्यवर्ती अङ्ग-  
 का अरमत्व प्रसिद्ध ही है ।

पृथ्वी पुच्छ-प्रतिष्ठा है । पृथ्वी  
 इस शब्दसे पृथ्वीकी अविच्छिन्नी  
 देवी समझनी चाहिये; क्योंकि  
 स्थितिकी हेतुमत् होनेसे वही  
 आध्यत्मिक प्राणको भी धारण  
 करनेवाली है । इस विषयमें “यह  
 पृथ्वी दशता पुरुषक जनमये  
 आश्रय करके” इत्यादि एक दूसरी  
 श्रुति भी है । अन्यथा प्राणकी  
 उगानवृत्तिसे या तो शरीर ऊपरको  
 उड़ जाता अथवा गुरुताका शिर  
 पड़ता । अतः पृथ्वी-देवता ही  
 प्राणमय शरीरकी पुच्छ-प्रतिष्ठा है ।  
 उसी अर्थमें अर्थात् प्राणमय अरमत्वके  
 विषयमें ही यह श्लोक प्रसिद्ध है ॥१॥

## तृतीय अनुवाक

प्राणकी महिमा और मनोमय कोशका वर्णन

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्या पशवश्च ये ।  
 प्राणो हि भूतानामायु । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव  
 त आयुर्यन्ति ये प्राण ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूता-  
 नामायु । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैव प्व  
 शारीर आत्मा य पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयास्व  
 न्योऽन्तर आत्मा मनोमय । तेनैव पूर्ण । स वा  
 एव पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामवय पुरुष  
 विधः । तस्य यजुरेव शिर । ऋग्दक्षिण पक्ष । सामोत्तर  
 पक्षः । आदेश आत्मा । अथवाङ्गिरस पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
 तदप्येव श्लोको भवति ।

देवगण प्राणको अनुगामी होकर प्राणम-क्रिया करते हैं तथा जो  
 मनुष्य और पशु आदि हैं [ वे भी प्राणम-क्रियासे ही बचवान् होते हैं ] ।  
 प्राण ही प्राणियोंकी आयु ( जीवन ) है । इसलिये वह 'सर्वायुष'  
 कहलाता है । जो प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं वे पूर्ण आयुको  
 प्राप्त होते हैं । प्राण ही प्राणियोंकी आयु है । इसलिये वह 'सर्वायुष'  
 कहलाता है । उस पूर्वोक्त ( अममय कोश ) का ही यही देहस्विय आत्मा  
 है । उस इस प्राणमय कोशसे दूसरा इसका भीतर रहनेवाला आत्मा  
 मनोमय है । उसके द्वारा वह पूर्ण है । वह यह [ मनोमय कोश ] भी  
 पुरुषाकार ही है । उस ( प्राणमय कोश ) की पुरुषाकारतां अनुसार ही यह  
 भी पुरुषाकार है । यजुः ही उसका शिर है ऋग् दक्षिण पक्ष है

साम उच्चर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा व्यर्थात्प्रितस पुच्छ—  
प्रतिष्ठ है । उसके नियमों ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति ।

प्रकृत्य देवा अग्न्याद्य

अथान्यन् प्राणं वाय्वात्मानं

प्राणनशक्तिमन्तमनु तदात्म-

भूताः सन्तः प्राणन्ति प्राणन

कर्म कुर्वन्ति प्राणनक्रियया

क्रियावन्तो भवन्ति । अप्यात्मा

बिकरारादेवा इन्द्रियाणि प्राणमनु

प्राणन्ति मुख्यप्राणमनु चेटन्त

इति वा । तथा मनुष्याः पशवश्च

ये ते प्राणनकर्मणैश्च चेटावन्तो

भवन्ति ।

अतश्च नात्ममयैव परिच्छि-

न्नेनात्मनात्मवन्तः प्राणिनः ।

किं तर्हि ? तद-तर्गतेन प्राणमये-

नापि साधारणेनैव सर्वपिण्ड

व्यापिनस्त्वन्तः मनुष्याद्यः ।

एष मनाभ्यादिभिः पूर्वपूर्वव्या-

पिभिरुचरोत्तरैः सन्मैरानन्दम-

यान्तेराकाशादिमूतारन्धैरविद्या-

कृतैरात्मवन्तः सर्वे प्राणिनः ।

तथा स्वामाविकेनाप्याकाशादि

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति—अग्नि

आदि देवगण प्राणनशाक्तमान् वायु-

रूप प्राणके अनुग्रामी होकर व्यर्थात्

तद्रूप होकर प्राणन-क्रिया करते

हैं, यानी प्राणन-क्रियासे क्रियवान्

होते हैं । अथवा यहाँ व्यपगत्य-

सम्बन्धी प्रकरण जानेसे [ यह

समझना चाहिये कि ] देव व्यर्थात्

इन्द्रियों प्राणके पीछे प्राणन करती

यानी मुख्य प्राणकी अनुग्रामिनी

होकर चेटा करती हैं तथा जो

भी मनुष्य और पशु आदि हैं वे ही

प्राणन क्रियासे ही चेटावान् होते हैं ।

इससे जाना जाता है कि प्राणी

केवल परिच्छिन्नरूप अत्ममय कोशसे

ही आत्मवान् नहीं हैं । तो क्या

है ? वे मनुष्यादि जीव उसके

जन्तर्वर्ती सम्पूर्ण पिण्डमें व्याप्त

साधारण प्राणमय कोशसे भी

अत्मवान् हैं । इस प्रकार पूर्व-पूर्व

कोशमें व्यापक मनोमयसे लेकर

आनन्दमय कोशपर्यन्त, आकाशरूपदि

मूर्तसे होनेवाले अविद्याकृत कोशों-

से सम्पूर्ण प्राणी आत्मवान् हैं ।

इसी प्रकार वे सम्भवसे ही

कारणेन नित्येनाविकृतेन सर्व  
 गतेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणेन  
 पञ्चब्रह्मादिगेन सर्वात्मनात्म  
 वन्तः । स हि परमार्थत आत्मा  
 सर्वेषामित्येतदुपर्यादुक्तं भवति ।

प्राणं देवा भन्तु प्राणन्तीत्युक्तं  
 सत्त्वसादिस्थाह । प्राणो हि  
 यस्याश्चतानां प्राणिनामायुर्जीव  
 नम् । "यावद्दृश्यसिञ्चरीरे प्राणो  
 बसति तावदायुः" ( कौ० उ०  
 ३ । २ ) इति श्रुत्यन्तरात् ।  
 तस्मात्सर्वायुपम् । सर्वेषामायुः  
 सबायुः सर्वायुरेव सर्वायुपमित्यु  
 ष्यते । प्राणावगमे मरणप्रसिद्ध ।  
 प्रसिद्धं हि साके सर्वायुष्ट  
 प्राणस्य ।

अथाऽसाक्षात्साधारणाद्  
 प्राणमयमात्म- न्नमयादात्मनोऽप  
 यत्तत्त्व- क्वच्यन्तः साधा  
 रणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्मोपासते  
 येऽब्रह्मसि प्राणः सर्वभूताना-

आकाशादिके कारण, निम्न,  
 निर्विकार सर्वगत, सत्य ज्ञान एवं  
 अनन्तरूप, पञ्चब्रह्मेशादीनि सर्वात्मासे  
 भी व्याप्तवान् हैं । वही परमार्थत  
 सत्त्व आत्मा है—यह बात भी  
 इस वाक्यके तात्पर्यसे कहा ही ही  
 गयी है ।

देवगण प्राणके पीछे प्राणन-  
 म्रिया करत हैं—ऐसा पहले कहा  
 गया । ऐसा क्यों है ? सो कहकरते  
 हैं—क्योंकि प्राण ही प्राणियोंका  
 आयु—जीवन है । "जबतक इस  
 शरीरमें प्राण रहता है तभीतक  
 आयु है" इस एक अन्य श्रुतिसे भी  
 यही सिद्ध होता है । इसीप्रिये यह  
 'सर्वायु' है । सबकी आयुका नाम  
 'सर्वायु' है, 'सर्वायु' ही 'सर्वयुप'  
 कहा जाता है; क्योंकि प्राण-प्रयाण-  
 के अनन्तर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध  
 ही है । प्राणका सर्वायु होना तो  
 लोकमें प्रसिद्ध ही है ।

अत एव लोग इस वाक्य  
 अस्मधारण ( व्यावृत्तरूप ) अस्ममय  
 काशसे अस्मभुक्तिसे इत्यादि इसके  
 अन्तर्गत और साधारण [ सम्पूर्ण  
 इन्द्रियोंमें वलुगत ] प्राणमय ब्रह्म-  
 को ही प्राण सम्पूर्ण मूर्तोंका आत्म

मास्मायुर्जीवनइतुत्वादिति ते  
 सर्वमेवायुरस्मिँल्लोके यन्ति, नाप  
 मृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुप  
 इत्यर्थः । अत्र वपापीति तु युक्त  
 "सर्वमायुरति" (छा० उ० २।  
 ११-२०, ४। ११-१६ ) इति  
 श्रुतिप्रसिद्धेः ।

किं क्वाप्य प्राणो हि भूत्वा  
 नामायुस्तस्मात्सर्वायुपमृच्यत इति ।  
 भो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्त स तद्  
 गुणभागभवतीति विद्याफलप्राप्त  
 हेत्वर्थं पुनर्वचनं प्राणो हीत्यादि ।  
 वस्य पूर्वस्यान्नमयस्यैष ण्य  
 क्षरीरेऽन्नमये भवः क्षारीर  
 मात्मा । क ? य एष प्राणमय ।

तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थ  
 मयत् । अन्यो-  
 मिनश्चरन् अन्तर आत्मा मना-  
 मयः । मन इति सकल्पवाधारम  
 कमन्तः। इत्यत्र तमया मनामयो

और उनके जीवनका कारण होनेसे  
 उनकी आयु है' इस प्रकार ब्रह्मरूपसे  
 उपासना करते हैं वे इस आत्ममें  
 पूर्ण आयुको प्राप्त होते हैं । अर्थात्  
 प्रारम्भिक प्रात हुई आयुसे पूर्व  
 अपमृत्युसे नहीं मरते । "पूर्ण आयु  
 को प्राप्त होता है" ऐसी श्रुति-प्रसिद्धि  
 होनेके कारण यहाँ [ 'सर्वायु'  
 शब्दमें ] सौ वर्ष सम्पन्न चाहिये ।

[ प्राणको सर्वायु समझनेका ]  
 क्या कारण है ? क्योंकि प्राण ही  
 प्राणियोंकी आयु है इसलिये वह  
 'सर्वायु' कहा जाता है । जो  
 व्यक्ति जैसे गुणवामे ब्रह्मकी उपासना  
 करता है वह उसी प्रकारके गुणका  
 भागी होता है—इस प्रकार विद्याक  
 फलकी प्राप्तिके इस हेतुको प्रदर्शित  
 करनेके लिये 'प्राणो हि भूत्वा  
 मयत्' इत्यादि वाक्यकी पुनरुक्ति की  
 गयी है । यही उस पूर्वकल्पित  
 अन्नमय कोशका शरीर—अन्नमय  
 शरीरमें रहनेवाला अत्मा है । कौन !  
 जो कि यह प्राणमय है ।

'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि दोन  
 पदोंका अर्थ पहले कह चुके हैं ।  
 इसका अन्तर-अन्तर्मा मनामय है ।  
 सकल्प-विकल्पामक अन्त-करणका  
 नाम मन है जो तद्रूप ही उसे  
 मनामय कहते हैं; जैसे [ अन्नमय



पदान्नमयः । सोऽयं प्राणमय  
 साम्यन्तर आत्मा । तस्य यजु  
 रेव धिरः । यजुरित्यनियताक्षर-  
 पादावसानो मन्त्रविशेषस्तमा  
 तीयवचनो यजु शब्दस्तस्य  
 धिरस्त्व प्राधान्यात् । प्राधान्य च  
 यागादौ संनिपत्सोपकारकत्वात् ।  
 यजुषा हि इविर्दीपते स्वाहाका  
 रादिना ।

वाचनिकी वा धिरआदि  
 कल्पना सर्वथ । मनसो हि  
 म्यानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्य  
 विपद्या तत्संकल्पार्थिका  
 तन्नाचिता वृत्तिः श्रोत्रादिक्रम-  
 द्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुः

होनेके कारण ] अन्नमय कहा गया  
 है । यह इस प्राणमयका अन्तर्कर्म  
 अश्रमा है । उसका यजु ही धिर  
 है । त्रिनमें अक्षरोंका कोई नियम  
 नहीं है ऐसे पाठमें समाप्त होनेवाले  
 मन्त्रविशेषका नाम यजु है । उस  
 जातिके मन्त्रोंका वाचक 'यजु'  
 शब्द है । उसे प्रधानताके कारण  
 धिर कहा गया है । यागादिमें  
 संनिपत्य उपकारक होनेके कारण  
 यजु-मन्त्रोंकी प्रधानता है, क्योंकि  
 स्वाहा आदिके द्वारा यजुर्मन्त्रोंसे ही  
 इति दी जाती है ।

अथवा इन सब प्रसंगोंमें धिर  
 आदिकी कल्पना द्युतिशक्त्यसे ही  
 समझनी चाहिये । अक्षरोंके  
 [उच्चारणके]स्वान, [अन्तरिक] प्रयत्न  
 [उससे उत्पन्न हुआ] नाद; [उदात्तारि]  
 स्वर [अक्षरादि] वर्ण [उससे रचे हुए]  
 पद और [पदोंके] समूह[रूप] वाक्यसे  
 सम्बन्ध रखनेवाली तथा उन्हें  
 संकल्प और भावसे युक्त जो व्रतणपरि  
 इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाली  
 'यजु' संकेतविशिष्ट मनकी वृत्ति है

\* अक्षर ही प्रकारके होते हैं—एक संनिपत्य उपकारक और वृत्ते  
 भावश्च उपकारक । उनमें जो अक्षर उदात्त अथवा परम्यराते प्रधान भागके  
 कथेकरकी पूर्ति कर उसके द्वारा अपूर्वकी उत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं वे संनिपत्य  
 उपकारक कहलाते हैं । यजुर्मन्त्र भी वागधाराएके निष्पन्न करनेवाले होनेसे  
 संनिपत्य उपकारक हैं ।

इत्युच्यते । एवमृगेष्व साम च ।

एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणां  
वृत्तिरवावर्त्यत इति मानसा जप  
उपपद्यते । अन्यथाविषयस्वान्म  
न्त्रा नावर्तयितुं शक्यो घटादि  
वदिति मानसो जपो नोपपद्यते ।  
मन्त्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशुः  
कर्मसु ।

वही 'मनु' कही जाती है । इस प्रकार 'शुक्' और ऐसे ही 'साम' को भी समझना चाहिये ।\*

इस प्रकार मन्त्रोंके मनोवृत्तिरूप होनेपर ही उस वृत्तिकर वाकर्तन करनेसे उनका मानसिक जप किया जाना ठीक हो सकता है । अन्यथा घटादिके समान मनके विषय न होनेके कारण तो मन्त्रोंकी आवृत्ति भी नहीं की जा सकती थी और उस अस्वामे मानसिक जप होना सम्भव ही नहीं था । किन्तु मन्त्रोंकी आवृत्तिका ही बहुत-से कर्मोंमें विधान किया ही गया है [ इससे उसकी असम्भवता तो सिद्ध हो नहीं सकती ] ।

\* 'मनु' आदि शब्दोंके मनुष्येद आदि ही लगते जाते हैं । परन्तु यहाँ जो उन्हें मनामव कोशके शिर आदि रूपसे बतझाया गया है उसमें यह संशय होती है कि उनका उल्लेख ऐसा क्या सम्भव है जो वे उनके मूलरूपसे बतझाने सके हैं । इस बावबमें मगवान् माप्नकारने उन्हीं बातको स्पष्ट किया है । इत्यादि शब्दोंमें यह है कि मनु, साम अथवा शुक् आदि मन्त्रोंके उच्चारणमें लक्ष्ये पहले अक्षर्य शब्दोंके उच्चारणके समान मनका ही व्यापार होता है । पहले कथ्य अथवा लक्ष्य आदि स्वानोंके अउपसिद्धात् प्रेरित बाधुका अभाव होता है, उल्लेख अस्तुत नादकी उत्पत्ति होती है; फिर क्रमशः स्वर और अक्षरदि वर्ण अभि-  
व्यक्त होते हैं । वर्णोंके लक्ष्योपलक्षे पर और परलक्ष्यके बाधुकी रचना होती है । इस प्रकार मानसिक लक्ष्य और भावके ही मनु, आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर बाधुमिद्वयके मध्य किये जाते हैं । अतः मनोवृत्तित्वे उक्तम शनैराद्ये होनेके कारण ही यहाँ मनुशिरवक मन्त्रोवृत्ति (मनु, शुक्तिरवक वृत्तिश्चो 'शुक्' और सामविरवक वृत्तिको ध्याम) कहा गया है; तथा इस प्रकारकी मनुवृत्ति ही मनामव कोशकी धीर्यस्पर्शव दे ।

अक्षरविषयस्मृत्याहस्या

मन्त्राहृतिः स्यादिति चेत् ?

न; मुख्यार्थासंभवात् । “त्रिः

प्रथमामन्त्राद् श्रिरुचमाम्” इति

श्रुगाहृतिः भूयते । तत्रचो

ऽविषयत्वे तद्विषयस्मृत्याहस्या

मन्त्राहृतौ च क्रियमाणायाम्

“त्रिः प्रथमामन्त्राह्” इति श्रुगा-

हृतिर्मुख्योऽर्थबोधितः परित्यक्तः

स्यात् । तस्मान्मनोहृत्पुपाधि-

परिच्छिन्नं मनोहृतिनिष्ठमात्म-

चैतन्यमनादिनिर्भरं यद्वाऽप्य-

वाप्यमात्मबिज्ञानं मन्त्रा इति ।

एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्बेदानाम्

अन्यथा विषयत्वे रूपादि

वदनित्यत्व च स्थान्मैतद्यु

क्तम् । “सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति

श्रुगा—मन्त्रके व्यक्षारोको क्रिय  
करनेवाकी स्मृतिकी अहृति होनेसे  
मन्त्रकी भी अहृति हो सकती है—  
यदि ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि [ ऐसा  
माननेसे अपेक्ष विधान करनेवाकी  
श्रुतिकर ] मुख्य अर्थ असम्भव हो  
जायगा । “तीन बार प्रथम श्रुक्की  
अहृति करनी चाहिये और तीन  
बार अन्तिम श्रुक्कर अन्वाह्वान  
(आवर्तन) कर” इस प्रकार श्रुक्की  
अहृतिके नियममें श्रुतिकी आज्ञा है ।  
ऐसी अवस्थामें मन्त्रमय श्रुक् तो  
मन्त्रक विषय नहीं है, अतः मन्त्रकी  
अहृतिके स्थानमें यदि केवल उसकी  
स्मृतिकर ही आवर्तन किया जाय  
तो “तीन बार प्रथम श्रुक्की  
अहृति करनी चाहिये” इस श्रुतिकर  
मुख्य अर्थ सूट जाता है । अतः यह  
समझना चाहिये कि मन्त्रेहृतिरूप  
उपाधिसे परिच्छिन्न मनोहृतिस्वित्त  
को अनादि-अमन्त आत्मचैतन्य  
यस्यु’ शब्दवाच्य आत्मबिज्ञान है  
यह यत्पूर्वक है । इसी प्रकार  
वेदोंकी नित्यता भी सिद्ध हो सकती  
है; नहीं तो इन्द्रियोंके विषय होने-  
पर तो रूपादिके समान समकरी भी  
अनित्यता ही सिद्ध होगी और ऐसा  
होना ठीक नहीं है । “चित्तमयं समस्त

स मानसीन आत्मा" इति च  
 धृतिर्नित्यात्मनैकत्वं ध्रुवत्पृगा  
 दीनां नित्यत्वे समञ्जसा सात् ।  
 "ध्रुवो अक्षरे परमे व्योमन्य  
 सिन्देवा अपि विश्वे निपेदुः"  
 ( श्वे० उ० ५ । ८ ) इति च  
 मन्त्रवर्ष्यः ।

आदेशोऽत्र प्राज्ञप्सुः अति  
 वेष्टव्यविशेषानतिदिशतीति । अथ-  
 र्वाङ्गिरसा च ष्टा मन्त्रा प्राज्ञानं  
 च शान्तिकर्षोपिकादिप्रतिष्ठा  
 हेतुर्मप्रधानत्वात्पुञ्छं प्रतिष्ठा ।  
 तदप्येव स्पष्टा भवति मनो  
 मयात्मप्रकाशक पूर्ववत् ॥ १ ॥

वेद एकरूप हो जाते हैं यह मनरूप  
 उपाधिमें स्थित आत्मा है" यह नित्य  
 आत्माके साथ अगादिका एकरूप  
 भवत्वनेवाली धृति भी अनक  
 नित्यत्व सिद्ध होनेपर ही सार्थक  
 हो सकती है । इस सम्बन्धमें  
 'त्रिसमें सम्पूर्ण देव स्थित हैं उस  
 अक्षर और परब्रह्मरूप आकाशमें  
 ही आचार्ये तात्पर्यमावसे व्यवस्थित  
 हैं" ऐसा मन्त्रवर्ष्य भी है ।

'आदेश आत्मा' इस वाक्यमें  
 आदेश' शब्द प्राज्ञाप्यक वाचक  
 है, क्योंकि वेदोंका प्राज्ञगम्य ही  
 कर्त्तव्यविशेषोंका आदेश ( उपदेश )  
 देता है । अथवाङ्गिरस अतिक  
 साक्षात्पर किये हुए मन्त्र और  
 प्राज्ञ ही पुञ्छ—प्रतिष्ठ हैं क्योंकि  
 ठममें शान्ति और पुष्टिकी स्थितिके  
 हेतुमूल कर्माकी प्रधानता है ।  
 पूर्ववत् इस विरयमें ही—मनोमय  
 आत्माका प्रयत्न करनेवाला ही  
 यह श्लोक है ॥ १ ॥

## चतुर्थ अनुवाक

मनोमय कोशकरी महिमा तथा विज्ञानमय कोशकरी पूर्णन

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् । न विमेति कदाचनेति । तस्यैष

एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मा-

न्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैव पूर्ण ।

स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं

पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । श्रुत दक्षिण पक्ष ।

सत्यमुत्तर पक्षः । योग आत्मा । मह पुच्छं प्रतिष्ठा ।

तदप्येव श्लोको भवति ॥ १ ॥

जहाँसे मनके सहित बाणी उसे न पाकर छीट जाती है उस  
मनोमयको जाननेवाला पुरुष कभी मयको प्राप्त नहीं होता । यह जो  
[ मनोमय शरीर ] है वही उस अपने पूर्ववर्ती [ प्राणमय कोश ] का  
पदवीरिक आत्मा है । उस इस मनोमयसे दूसरा इसका अन्तर आत्मा  
विज्ञानमय है । उसके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह विज्ञानमय भी  
पुरुषाकार ही है । उस [ मनोमय ] की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह  
भी पुरुषाकार है । उसका यथा ही शिर है । श्रुत दक्षिण पक्ष है ।  
सत्य उत्तर पक्ष है । योग आत्मा ( मन्मथग ) है और महत्त्व पुच्छ-प्रतिष्ठा  
है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

यतो वाचा निवर्तन्ते । अप्राप्य  
मनसा सहैस्वादि । तस्य पूर्वस्य  
प्राणमस्यैव एवात्मा शारीरः

जहाँसे मनके सहित बाणी उसे  
न पाकर छीट जाती है—इत्यादि  
[ अर्थ स्पष्ट ही है ] उस पूर्व-  
कथित प्राणमयका यही शारीर

शरीर प्राप्पमये मव क्षारीरः  
 कः । य एप मनोमयः । तस्माद्वा  
 एतस्मादित्यादि पूर्ववत् । अ  
 न्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयो  
 मनोमयस्याम्यन्तरो विज्ञानमयः ।

मनोमयो वेदात्माक्तः । वे  
 दार्थविषया बुद्धिर्निष्पत्तिक  
 विज्ञान तथाप्यवसायलक्ष्यम-  
 न्तकरणस्य धर्म । तन्मयो  
 निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्नि-  
 र्वर्तित आत्मा विज्ञानमयः ।  
 प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि यज्ञादि  
 स्तापते । यज्ञादिहेतुत्व एव  
 वक्ष्यति श्लोकेन ।

निश्चयविज्ञानमतो हि कर्तव्ये-  
 ष्वर्थेषु पूर्वं भद्रोत्पद्यते । सा  
 सर्वकर्तव्यानां प्राथम्याच्छिर इव  
 शिरः । अतस्तत्प्रे यथाभ्या  
 स्याते एव । योगो युक्तिः

अर्थात् प्राणमय शरीरमें रहनेवाला  
 आत्मा है । कौन ? यह जो मनोमय  
 है । 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि  
 वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना  
 चाहिये । उस इस मनोमयसे दूसरा  
 इसका अन्तर आत्मा विज्ञानमय है  
 अर्थात् मनोमय काशक भीतर  
 विज्ञानमय कोश है ।

मनोमय कोश वेदरूप बतलव्य  
 गया था । वेदके अर्थके नियमों  
 जो निश्चयात्मिक बुद्धि है उसीका  
 नाम विज्ञान है । और वह अन्त  
 करणका अल्पस्तापरूप धर्म है ।  
 तन्मय अर्थात् प्रमाणस्वरूप निश्चय  
 विज्ञानसे ( निश्चयात्मिक बुद्धिसे  
 निष्पन्न ज्ञानश्रवण आत्मा विज्ञानमय  
 है, क्योंकि प्रमाणके विज्ञानपूर्वक  
 ही यज्ञादिकर विस्तार किया जाता  
 है । विज्ञान यज्ञादिकर हेतु है—  
 यह बात श्रुति भागे वक्ष्यकर मन्त्र-  
 द्वारा बतलव्येगी ।

निश्चयात्मिक बुद्धिसम्पन्न पुरुष-  
 को सबसे पहले कर्तव्यकर्ममें भद्रा  
 ही उत्पन्न होती है । अतः सम्पूर्ण  
 कर्मोंमें प्रथम होनेके कारण वह  
 शिरके समान उस विज्ञानमयका  
 शिर है । अतः और सम्पन्न अर्थ  
 पहले ( शिक्षावृत्ती, नम्र अनुशासन  
 की हुई व्याख्याक ही समान है ।

समाधानम्, आत्मेवात्मा ।  
 आत्मवतो हि युक्तस्य समाधान  
 वतोऽङ्गानीव भद्रादीनि यथार्थ  
 प्रतिपच्छिमामि भवन्ति ।  
 तस्मात्समाधान याग आत्मा  
 विज्ञानमयस्य । महः पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
 मह इति महत्त्वं प्रथमम्  
 “महत्त्वं प्रथमं वेद” (पृ० उ०  
 ५ । ४ । १ ) इति ध्रुत्यन्तरात् ।  
 पुच्छं प्रतिष्ठा कारणत्वात् ।  
 कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा ।  
 यथा हृद्वीरुवां पृथिवी । सर्व  
 बुद्धिविज्ञानानां च महत्त्वं  
 कारणम् । तेन तद्विज्ञानमयस्या  
 स्मनः प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको  
 भवति पूर्ववत् । यथाभमयादी  
 नां ब्राह्मणोक्तानां प्रकाशक  
 श्लोकैर्षर्वविज्ञानमयस्यापि ॥१॥

योग-युक्ति अर्थात् समाधान ही  
 आत्माके समान उत्सक आत्मा है ।  
 युक्त अर्थात् सम्प्रधानसम्पन्न  
 आत्मवान् पुरुषके ही ब्रह्मणिक  
 समान भद्रा आदि साधन स्पर्ष  
 ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्प होने हैं ।  
 अतः समाधान यानी याग ही  
 विज्ञानमय कोशक आत्मा है और  
 मह उत्सकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है ।

“प्रथम उत्सक इए महान् फल  
 ( पृष्ठीय ) करे जानता है । इस  
 एक अन्य श्रुतिके अनुसार ‘मह’  
 यह महत्त्वकर नाम है । यही  
 [ विज्ञानमयकर ] कारण होनेमें  
 उत्सकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है, क्योंकि  
 कारण ही कार्यरगकी प्रतिष्ठा  
 ( कारण ) हुआ करता है, जैसे कि  
 हृद और अतः-गुम्मादिकी प्रतिष्ठा  
 पृथिवी है । महत्त्व ही बुद्धिके सम्पूर्ण  
 विज्ञानोंका कारण है । इसलिये यह  
 विज्ञानमय आत्माकी प्रतिष्ठा है ।  
 पूर्ववत् उसके विषयमें ही यह श्लोक  
 है अर्थात् जैसे पहले श्लोक ब्राह्मणोक्त  
 अमय आदिके प्रकारसक हैं सही  
 प्रकार यह विज्ञानमयकर भी प्रकारसक  
 श्लोक है ॥ १ ॥

## पञ्चम अनुवाक

विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय कीमका कथन

विज्ञानं यज्ञ तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च ।  
 विज्ञान देवा सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म  
 चेद्वेद । तस्माद्ब्रह्म प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा ।  
 सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैव एव शारीर आत्मा  
 य पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर  
 आत्मानन्दमय । तेनैव पूर्ण । स वा ण्य पुरुषविध एव ।  
 तस्य पुरुषविधतामन्वय पुरुषविध । तस्य प्रियमेव शिर ।  
 मोदो दक्षिण पक्ष । प्रमोद उत्तर पक्ष । आनन्द  
 आत्मा । ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येव श्लोको भवति ॥१॥

विज्ञान ( विज्ञानवान् पुरुष ) यज्ञका विस्तार करता है और बड़ी  
 कर्मोंका भी विस्तार करता है । सम्पूर्ण देव ज्येष्ठ विज्ञान ब्रह्मकी उपासना  
 करते हैं । यदि साधक विज्ञान ब्रह्म है? ऐसा जान जाय और फिर  
 उससे प्रमोद न करे तो अपने शरीरके सारे पापोंको त्याग कर वह समस्त  
 कामनाओं ( भोगों ) को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है । यह जो विज्ञानमय  
 है बड़ी उस अपन पूर्वकी मनोमय शरीरका आत्मा है । उस इस  
 विज्ञानमयसे दूसरा इसका अन्तर्बर्ती आत्मा आनन्दमय है । उस  
 आनन्दमयके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह आनन्दमय भी पुरुषाकार ही  
 है । उस ( विज्ञानमय ) की पुरुषाकारताके समान ही यह पुरुषाकार  
 है । उसका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है प्रमोद उत्तर पक्ष  
 है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा है । उसके विषयों ही  
 यह श्लोक है ॥ १ ॥



विज्ञानं यच्च तनुत । विज्ञान  
 विज्ञानमये वाग्निं यच्च तनोति  
 यत्तन्वद् भद्रादिपूर्वकम् ।  
 अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुत  
 इति कर्माणि च तनुते । यस्मात्-  
 द्विज्ञानकर्तृकं सर्वं तस्मात्पूर्वकं  
 विज्ञानमय आत्मा मध्येति ।  
 किं च विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवा  
 इन्द्रादयो ज्येष्ठं प्रथमज्ज्वात्सर्वं  
 प्रवृत्तीनां वा तत्पूर्वकस्त्वारप्रथमजं  
 विज्ञानं ब्रह्मोपासते प्श्यायन्ति  
 तस्मिन्विज्ञानमयं ब्रह्मप्यभि-  
 मानं कृत्वोपासत इत्यर्थः ।  
 तस्मात् महतो ब्रह्मण उपा-  
 सनाज्ज्ञानैर्धर्यवन्तो भवन्ति ।

तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेद्यदि वेद  
 विद्वान्नाति न केवलं वैश्वं तस्मात्-  
 ब्रह्मप्यश्वेन प्रमाद्यति वाद्येष्वेव  
 न तस्मात्स्वात्मनावितत्वा प्राप्त वि-  
 ज्ञानमये ब्रह्मप्यस्मात्समावनायाः

विज्ञान यज्ञक विस्तार करता  
 है अर्थात् विज्ञानवान् पुरुष ही  
 भद्रादिपूर्वक यज्ञक अनुष्ठान करता  
 है । अतः यज्ञानुष्ठानमें विज्ञानक  
 कर्तृत्व है और तनुते-इसका अर्थ  
 यह है कि यही कर्मोक्त भी  
 विस्तार करता है । इस प्रकार  
 क्योंकि सब कुछ विज्ञानक ही  
 किया हुआ है इसलिये विज्ञानमय  
 आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कहना ठीक  
 ही है । यही नहीं, इन्द्रादि सम्पूर्ण  
 देवताय विज्ञानब्रह्मकी, जो सबसे  
 पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे  
 ज्येष्ठ है अथवा समस्त इतिषीं  
 विज्ञानपूर्वक होनेक कारण जो  
 प्रथमोत्पन्न है, उस विज्ञानरूप ब्रह्मकी  
 उपासना अर्थात् ध्यान करते हैं ।  
 तत्पर्यय यह है कि वे उस विज्ञानमय  
 ब्रह्ममें अभिमान करके उसकी  
 उपासना करते हैं । अतः वे उस  
 ब्रह्मब्रह्मकी उपासना करनेसे ज्ञान  
 और ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं ।

उस विज्ञानरूप ब्रह्मको यदि  
 जान ले-केवल जान ही न ले बलिक  
 यदि उससे प्रमाद भी न करे; बाह्य  
 अनारम्भस्याचोमि आत्ममुक्ति की  
 हुई है, उसके कारण विज्ञानमय  
 ब्रह्ममें की हुई ध्यानमयवनासे प्रमाद

प्रमदं सन्निवृत्त्यर्थमुच्यते तस्मात्  
 चेन्नप्रमाद्यतीति, अज्ञमयादिष्व  
 त्ममाधं हित्वा षष्ठे विज्ञान  
 मये ब्रह्मण्यात्मत्व भाषयन्नारसे  
 चेदित्यर्थः ।

ततः किं स्यादित्युच्यते—

निद्राच्छरीरे पाप्माना  
 चसत्काले हित्वा शरीराभि  
 माननिमित्ता हि सर्वे पाप्मान  
 तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभि  
 मानान्निमित्तापाये हानमुपपद्यते,  
 छात्रापाय इवच्छायापायः ।

तस्माच्छरीराभिमाननिमित्तान्  
 सर्वाण्यपाप्मानः शरीरप्रमयाच्छरीर  
 एव हित्वा विज्ञानमयब्रह्मस्वरू  
 पापन्नस्तत्त्या सर्वान्क्रमान्निवृत्त्या  
 नमनेनैवात्मना समश्नुते सम्य  
 ग्मुक्त इत्यर्थः ।

तस्य पूर्वस्य मनामयस्यात्मैप  
 चान्मनामय एव शरीरे मनोमये  
 शरीरकाले  
 चान्मनामय मयः शरीरः । कः ?  
 य एव विज्ञानमय । तस्मात्

होना सम्भव है, उसकी निवृत्तिके  
 लिये कहते हैं— यदि उससे प्रमाद  
 न कर, ज्ञपादि । तत्पय यह है  
 कि यदि अज्ञमय आदिमें ज्ञानमय  
 को छाड़कर ब्रह्म विज्ञानमय ब्रह्ममें  
 ही आत्मत्वकी भावना करने स्थित  
 रहे—

तो क्या होगा ? इसपर कहते  
 हैं— शरीरक पपको त्याग कर  
 सम्पूर्ण पाप शरीराभिमानके कारण  
 ही होनेवाले हैं विज्ञानमय ब्रह्ममें  
 आत्मत्वका अभिमान करनेसे निमित्त  
 का क्षय हो जानपर उनका भी  
 क्षय होना उचित ही है, जिस  
 प्रकार कि छालेके हटा लिये जानेपर  
 छायाकी भी निवृत्ति हो जाती है ।  
 अतः शरीराभिमानके कारण होने  
 वाले शरीरजनित सम्पूर्ण पापोंका  
 शरीरहीमें त्याग कर विज्ञानमय ब्रह्म-  
 स्वरूपको प्राप्त हुआ साधक उसमें  
 स्थित सारे मोगोंको विज्ञानमय  
 स्वरूपसे ही सम्पक्यकारसे प्राप्त  
 कर लेता है अर्थात् उनका पूर्णतया  
 उपमोग करना है ।

उस पूर्वकल्पित मनामयका शरीर—  
 मनोमय शरीरमें रहनेवाला अस्त्या  
 भी यही है । कौन ? यह जो  
 विज्ञानमय है । तत्पय प्तस्मात्

एतस्मादित्युक्तार्थम् । आनन्द  
मय इति कार्यात्मप्रतीतिरधि  
कारान्मयदृग्भूदाद्य । अन्नादि  
मया दि कार्यात्मानो मौक्तिका  
इहाधिकृता । तदधिकारपठित  
आयमानन्दमयः, मयद्वात्र वि  
कारार्थे दृष्टो यथान्नमय इत्यत्र ।  
तस्मात्कार्यात्मानन्दमयः प्रत्ये  
तस्यः ।

संक्रमणाय; आनन्दमयमा-  
त्मानमुपसकामतीति वक्ष्यति ।  
कार्यात्मनां च संक्रमणमनात्मनां  
दृष्टम् । संक्रमणकर्मत्वेन चा  
नन्दमय आत्मा भूपते । यथान्न-  
मयमात्मानमुपसकामतीति । न  
चात्मन एवोपसंक्रमणम् । अधि  
कारविरोधादसंमवाच । न द्या-

इत्यादि वाक्यका अथ पहले कहा  
जा चुका है । 'आनन्दमय' इस  
शब्दसे कार्यात्माकी प्रतीति होती  
है; क्योंकि यहाँ तसीका अधिकार  
( प्रसङ्ग ) है और आनन्दके साथ  
मयद्' शब्दका प्रयोग किया गया  
है । यहाँ 'अन्नमय' आदि मौक्तिक  
कार्यात्माओंका अधिकार है, उन्हीके  
अन्तर्गत यह आनन्दमय भी है ।  
'मयद्' प्रत्यय भी यहाँ अधिकारके  
अर्थमें देखा गया है; जैसा कि  
'अन्नमय' इस शब्दमें है । अतः  
आनन्दमय कार्यात्मा है—ऐसा  
जानना चाहिये ।

संक्रमणके कारण भी यही बात  
सिद्ध होती है । 'यह आनन्दमय  
आत्मके प्रति संक्रमण करता है  
[ अर्थात् आनन्दमय आत्माको प्राप्त  
होता है ]' ऐसा अगो ( अद्यम  
अनुवाकमें ) कहेंगे । अन्नमयादि  
अनात्मा कार्यात्माओंका ही संक्रमण  
हाना देख गये हैं । और संक्रमणके  
कर्मरूपसे आनन्दमय आत्माका  
भ्रमण होता है जैसे कि 'यह  
अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण  
( गमन ) करता है [ इस वाक्यमें  
देख्य जाता है ] । स्वयं आत्मका  
ही संक्रमण होना सम्भव है नहीं;  
क्योंकि इससे वस्तु प्रसङ्गमें विरोध  
आता है और ऐसा होना सम्भव  
भी नहीं है । आत्माका अन्नमयको

स्मनेवात्मन उपसंक्रमणं संम  
वति । स्वात्मनि मेदामावात् ।

आत्ममूत च ब्रह्म सकृत्कमितुः ।

शिर आदिकल्पनानुपपत्तेश्च ।

न हि यथोक्तलक्षण आकाशादि

कारणेऽकार्यपतिते शिरआद्यवयव  
रूपकल्पनापपद्यते । “अदृश्ये-

ऽनन्तस्मेऽनिरुक्तेऽनिलयने” ( तै०

उ० २ । ७ । १ ) “अस्पृष्ट

मनसु” ( बृ० उ० ३ । ८ । ८ )

“नेति नेरुपात्मा” ( बृ० उ० ३ । ९ ।

२६ ) इत्यादिभिन्नेषामोद्भृति

म्यथ ।

मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्च । न

हि प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे

प्रत्यक्षतोऽनुभूयमान आनन्दमय

आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्या-

ख्यत्वाभावात् “असन्नेव स

भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्”

( तै० उ० २ । ६ । १ ) इति

ही प्राप्त होना कभी सम्भव नहीं  
है; क्योंकि अपने आत्मामें भेदका  
सर्वथा अभाव है और ब्रह्म भी  
संक्रमण करनेवालेका आत्मा ही है ।

[ आत्मामें ] शिर वाष्पिकी  
कल्पना असम्भव होनेके कारण भी  
[ आनन्दमय कल्पना ही है ] ।

आकाशादिके कारण और कार्यकाक  
अन्तगत न जानेवाले उपर्युक्त  
लक्षणविशिष्ट आत्मामें शिर आदि  
अवयवरूप कल्पनाका होना संगत  
नहीं है । आत्मामें विशेष धर्मोंका  
भाव करनेवाली ‘अदृश्य, अशरीर,  
अनिर्भवनीय और अनामयमे’ “अस्पृष्ट  
और सुरमसे रक्षित” ‘आत्म यह  
नहीं है यह नहीं है” इत्यादि सुविद्योसे  
भी यही बात सिद्ध होती है ।

[ आनन्दमयको यदि आत्म  
माना जाय तो ] आगे कहे हुए  
मन्त्रका उदाहरण देना भी नहीं  
बनता । शिर आदि अवयवोंसे युक्त  
आनन्दमय आत्माका ब्रह्मके प्रत्यक्ष  
अनुभव होनेपर तो ऐसी शंका ही  
नहीं हो सकती कि ब्रह्म नहीं है,  
किससे कि [ उस शंकाकी निवृत्ति-  
के लिये ] “जो पुरुष, ब्रह्म नहीं  
है—ऐसा जानता है वह असद्रूप

मन्त्रादाहरणमुपपद्यते । प्रथमं पुच्छं  
प्रतिष्ठेत्यपि चानुपपन्नं पृथग्  
क्षणं प्रतिष्ठात्वनं ब्रह्मम् ।  
तस्मात्कार्यपतितं एवानन्दमयो  
न पर एवात्मा ।

आनन्द इति विद्याकर्मणो  
फलं तद्विकार आ  
नन्दमयः । स च  
विज्ञानमयादान्तरः । यद्वा-  
दिहेतोर्विज्ञानमयादसान्तरस्व-  
भूतेः । ज्ञानकर्मणोर्हि फलं  
मोक्षार्थत्वादान्तरतमं स्यात् ।  
आन्तरतमवानन्दमय आत्मा  
पूर्वेभ्यः । विद्याकर्मणोः प्रिया  
धर्मत्वात् । प्रियादिप्रयुक्ते हि  
विद्याकर्मणी । तस्मात्प्रियादीनां  
फलरूपाणामात्मसंनिधत्वादि  
ज्ञानमयस्यान्तरस्वमुपपद्यते ।  
प्रियादिवासनानिर्भूतो आनन्द

ही है । इस मन्त्रका उल्लेख सप्त  
हो सके । तथा ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठ  
है । इस वाक्यक अनुसार प्रतिष्ठ-  
रूपमें ब्रह्मको पृथक् ग्रहण करना  
भी नहीं बन सकता । अतः यह  
आनन्दमय कर्मवर्गक अन्तर्गत ही  
है—परमात्मा नहीं है ।

आनन्द यह उपासना और  
कर्मका फल है, उसका विकार  
आनन्दमय कहलाता है । यह  
विज्ञानमय कोशसे आन्तर है, क्योंकि  
सृष्टिके द्वारा यह यज्ञादिके कारणमूल  
विज्ञानमयकी अपेक्षा आन्तर बतलाना  
गया है । उपासना और कर्मका फल  
मोक्षाके ही लिये है, इसलिये वह  
सबसे आन्तरतम होना चाहिये; उसे  
पूर्वोक्त सब कोशोंकी अपेक्षा  
आनन्दमय आत्मा आन्तरतम है ही;  
क्योंकि प्रिया और कर्म भी  
[ प्रथमत्वात् ] प्रिय आदिके ही लिये  
हैं । प्रिय आदिकी प्राप्तिके उद्देशसे  
ही उपासना और कर्मका अनुष्ठान  
किया जाता है, अतः उनके फलरूप  
प्रिय आदिकर कारणसे सन्निध्य  
होनेका कारण विज्ञानमयकी अपेक्षा  
इस ( आनन्दमय कोश ) का  
आन्तरतम होना उचित ही है ।  
प्रिय आदिकी वासनासे निष्पन्न

ममो विज्ञानमयाधितः स्वप्न उप  
लभ्यते ।

इति यह आनन्दमय स्वप्नावस्थामें  
विज्ञानमयके अधीन ही उपलब्ध  
होता है ।

तस्यानन्दमयस्यात्मन इष्ट  
पुत्रादिदर्शनञ्च प्रियं  
उत्पत्तिफलम् शिर इव शिरः  
प्राधान्यात् । मोद इति प्रिय  
सामानिमिषो हर्षः । स एव च  
प्रकृष्टो हर्षः प्रमोद । आनन्द  
इति सुखसामान्यमात्मा प्रिया-  
दीनां सुखावयवानाम् । तेष्वनु-  
स्यूतत्वात् ।

उस आनन्दमय आत्माका पुत्रादि  
इष्ट पदार्थके दर्शनसे होनेवाला  
प्रिय ही प्रधानताके कारण शिरके  
समान शिर है । प्रिय पदार्थकी  
प्राप्तिसे होनेवाला हर्ष 'मोद'  
कहा जाता है; वही हर्ष प्रकृष्ट  
( अतिसुख ) होकर प्रमोद' कहा  
जाता है । 'आनन्द' सामान्य  
सुखका नाम है, वह सुखके  
अन्यथामूल प्रिय आदिका आत्मा है;  
क्योंकि उसीमें वे सब अनुस्यूत हैं ।

आनन्द इति परं ब्रह्म । तद्वि-  
शुभकर्मणा प्रस्तुपस्वाप्यमाने  
पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधात्  
न्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसाप्र-  
पञ्चयमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते ।  
तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके ।  
तद्वृत्तिविशेषप्रस्तुपस्वापकस्तत्र क-  
र्मणाऽनवस्थितत्वात्सुखस्य शुभि-  
कत्वम् । तद्यदान्तःकरणे तपसा  
तमोमेन विषया ब्रह्मचर्येण भद्रया

आनन्द' यह परब्रह्म ही  
वाक्य है । वही शुभकर्मकारण  
प्रस्तुत किये हुए पुत्र-मित्रादि विशेष  
विषय ही जिसकी उपाधि है उस  
सुपसन्न अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष-  
में, जब कि वह तमोगुणसे आच्छादित  
नहीं होकर, अभिव्यक्त होता है ।  
यह लोकमें विषय सुख नामसे प्रसिद्ध  
है । उस वृत्तिविशेषका प्रस्तुत  
करनेवाले कर्मके अस्तिर होनेके  
कारण उस सुखकी भी क्षणिकता  
है । जब जिस समय अन्तःकरण  
तमोगुणकी मग्न करनेवाले तप,  
उपासना, ब्रह्मचर्य और भद्राके द्वारा

च निर्मलत्वमापद्यते यावथाव  
 चावचावद्विविक्ते प्रसन्नेऽन्तः  
 करण आनन्दविशेष उत्कृष्यत  
 विपुलीभवति । वक्ष्यति च—  
 “रसा वै सः । रसश्चोद्यमं  
 सम्भ्यानन्दी भवति । एष ज्ञेयान  
 न्दयासि” ( सै० उ० २ । ७ ।  
 १ ) “एतस्यैवानन्दस्थान्यानि  
 मृतानि मात्रासुपजीवन्ति” ( सू०  
 उ० ४ । ३ । ३२ ) इति च  
 सुस्पन्तरात् । एवं च कामोप  
 श्चमात्कल्पापेक्षया छतगुणोत्तरो-  
 त्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते ।

एवं चोत्कृष्यमाणस्यानन्द  
 मयस्वात्मनः परमार्थब्रह्मविज्ञाना  
 पेक्षया ब्रह्म परमेष्ठ । पस्त्रकृतं  
 सत्यज्ञानानन्तच्छब्दसु, यस्य  
 च प्रतिपत्तवर्षं पञ्चाशद्विभवाः  
 क्षेप्या उपन्यस्ताः, यच्च तेभ्य  
 भाग्यन्तरम्, येन च ते सर्व  
 भास्वन्तः, तद्ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ।

चित्तना-चित्तना निमज्जताका प्राप्त  
 होता है उतने-उतन ही लक्ष्य और  
 प्रसन्न हुए उस अन्त-करणमें विशेष  
 आनन्दका उत्कर्ष होता है अर्थात्  
 वह बहुत बढ़ जाता है । यही बात  
 “रस रस ही है, इस रसको पाकर  
 ही पुरुष आनन्दी हो जाता है ।  
 यह रस ही सबको आनन्दित करता  
 है ।” इस प्रकार जागे रहेंगे  
 तथा “पूरा आनन्दके अंशमात्रके  
 आत्म्य ही सब प्राणी जीवित रहते  
 हैं” इस अन्य धृतिसे भी यही बात  
 सिद्ध होती है । इसी प्रकार काम-  
 रागितिके उत्कर्षकी अपेक्षा आगे-  
 आगेके आनन्दका छे-सौ गुना  
 उत्कर्ष आगे कथनाया जायगा ।

इस प्रकार परमार्थ ज्ञानके सिद्धान  
 की अपेक्षासे ब्रह्मरा उत्कर्षको प्राप्त  
 होनेवाले आनन्दमय आत्माकी  
 अपेक्षा ब्रह्म पर ही है । जो प्रकृत  
 मय सत्य, ज्ञान और जगत्स्वरूप है,  
 जिसकी प्राप्तिके लिये अस्मय आदि  
 पाँच कोशोंका उपन्यास किया गया  
 है, जो उन सबकी अपेक्षा अन्तर्गत  
 है, और जिसके द्वारा वे सब  
 आत्मस्थान् हैं—वह ब्रह्म ही उस  
 आनन्दमयकी पुच्छ-प्रतिष्ठा है ।

तदेव च सर्वस्याधिद्यापरि  
 कल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूत  
 मद्द्वैतं ब्रह्म प्रसिद्धा आनन्द  
 मयस्य । एकत्वावसानत्वात् ।  
 अस्ति तदेकमधिद्याकल्पितस्य  
 द्वैतस्यावसानभूतमद्द्वैतं ब्रह्म  
 प्रसिद्धा पुच्छम् । तदेतस्मिन्नप्यर्थ  
 एव श्लोको भवति ॥ १ ॥

अधिद्याद्वारा कल्पना किये हुए  
 सम्पूर्ण द्वैतका निषेधावधिभूत यह  
 मद्द्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रसिद्ध है,  
 क्योंकि आनन्दमयका पर्यवसान भी  
 एकत्वमें ही होता है । अधिद्या,  
 परिकल्पित द्वैतका अवसानभूत यह  
 एक और अद्वितीय ब्रह्म उसकी  
 प्रसिद्धा यानी पुच्छ है । उस ही  
 अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मसूत्रव्याख्या पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥





## षष्ठ अनुवाक

ब्रह्म छो सत् और असत् जाननेवालेके भेद, ब्रह्म और ब्रह्मज्ञकी  
ब्रह्मप्राप्तिके नियममें सत् तथा सम्पूर्ण परब्रह्मरूपसे  
ब्रह्मके स्थित होनेका निरूपण

असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति चेद् चत् । अस्ति  
ब्रह्मेति चेद्देव । सन्तमेन ततो विदुरिति । तरयैष एव  
शारीर आत्मा य पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः । उता-  
विद्वानमु लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३ । आहो विद्वा  
नमुं लोक प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ । सोऽकामयत ।  
बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा  
इव सर्वमसृजत यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानु  
प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यन्नाभवत् । निरुक्तं  
चानिरुक्त च । निलयन चानिलयनं च विज्ञान चावि  
ज्ञान च । सत्यं चानृत च सत्यमभवत् । यदिद् किंच ।  
सत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येव श्लोको भवति ॥ १ ॥

परि पुरुष ब्रह्म असत् है ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत्  
ही हो जाता है । और यदि ऐसा जानता है कि ब्रह्म है तो [ ब्रह्मवेच्छ-  
जम ] उसे सत् समझते हैं । उस पूर्ववर्षित ( विद्वानमय ) का वह  
जो [ आत्ममय ] है शरीर स्थित आत्मा है । अब ( आचार्यका ऐसा  
उपदेश सुनकर अनन्तर शिष्यके ) ये अनुभव हैं—क्या कोई अविद्वान्  
पुरुष भी इस शरीरके छोड़कर अनन्तर परमात्मके प्राप्त हो सकता  
है ? अथवा कोई विद्वान् भी इस शरीरका छोड़नेके अनन्तर परमात्मके

प्राप्त होता है या नहीं ? [ इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये आचार्य मूमिका बौधते हैं—] उस परमात्माने क्रमना की (मैं बहुत हो जाऊँ कर्पात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ ) अतः उसने तप किया । उसने तप करके ही यह आ कुछ है इस सबकी रचना की । इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया । इसमें अनुप्रवेश कर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त-अमूर्त [ देशकालादि परिच्छिन्नरूपसे ] कहे जानेयोग्य और न कहे जानेयोग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक सत्य-असत्य-रूप हो गया । यह आ कुछ है उसे ब्रह्मवेत्ता श्रेण 'सत्य' इस नामसे पुकारते हैं । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

असन्नेवासत्सम एव यथा

सन्न पुरुषार्थसंब  
ल्लतत्परिचयेनः  
भ्येर्ब स भवति

अपुरुषार्थसंबन्धी । कोऽसौ ?

योऽसदविद्यमानं ब्रह्मेति वेद

विजानाति चेद्यदि । तद्विपर्ययेण

तत्सर्वविकृत्यास्यर्दं सर्वप्रवृत्ति

बीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमप्य

ति तद्ब्रह्मेति वेद वेत् ।

कृतः पुनराश्रया तन्नामित्त्वे?

व्यवहारातीतस्य प्रक्षण इति

श्रुम् । व्यवहारविषये हि वाचा-

असत् प्रकर असत् (अविद्यमान) पदार्थ पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं होता उसी प्रकार वह भी असत्—असत्के समान ही पुरुषार्थसे सम्बन्ध नहीं रखनेवाला हो जाता है—वह कौन ? जो 'असत्—अविद्यमान है' ऐसा जानता है । 'वेत्' शब्दका अर्थ 'थ्यादि' है । इसके विपरित 'जो तत्त्व सम्पूर्ण विकृत्योंका आश्रय, समस्त प्रवृत्तियोंका बीजरूप और सम्पूर्ण विवेकोसे रहित भी है वही ब्रह्म है' ऐसा यदि कोई जानता है [ तो उसे ब्रह्मवेत्ताश्रेण सत्य समझते हैं इस प्रकार इसका अग्रेके वाक्यमें सम्बन्ध है ] ।

वित्तु ब्रह्मक अस्तित्वामात्र विषयमें शंका क्यों की जाती है [ इसतर ] इनारा यह कल्प है कि ब्रह्म व्यवहारसे परे है । [ इसी-लिये ] व्यवहारके विषयमें पदार्थों-

रम्भयमात्रेऽस्तिस्वभाविता बुद्धि  
स्तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्ति-  
स्वमपि प्रतिपद्यते । यथा षट्-  
दिर्भ्यवहारविषयतयोपपन्नः सं-  
स्तद्विपरीतोऽसन्निति प्रसिद्धम् ।  
एवं तस्सामान्यादिहापि स्वाङ्ग-  
यो नास्तिस्वप्रत्याङ्गत्वात् । तस्मा-  
दुच्यते—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदेति ।

किं पुनः स्यादस्तीति वि-  
धानतस्तदाह—सन्तं विद्यमान  
ब्रह्मस्वरूपेण परमात्मसदात्मापन्न  
मेनमेवंविद् विदुर्ब्रह्मविदस्तत  
स्तस्मादस्तिस्ववेदनास्तोऽन्येषां  
ब्रह्मब्रह्मेयो भवतीत्यर्थः ।

अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति  
मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य  
वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणसाध

में ही, जो कि केवल वाणीसे ही  
उच्चारण किये जानेवाले हैं अस्तित्व-  
की भावनासे याचित हुई बुद्धि  
उससे विपरीत व्यवहारातीत पदार्थों-  
में अस्तित्वका भी अनुभव नहीं  
करती, जैसे कि [ जल बना आदि ]  
व्यवहारके विषयरूपसे उत्पन्न हुआ  
षट् आदि पदार्थ 'सत्' और उससे  
विपरीत [ कम्पापुत्रादि ] 'असत्'  
होता है—इस प्रकार प्रसिद्ध है ।  
उसी प्रकार उसकी समानताके  
कारण यहाँ भी ब्रह्मके अविषयमन्त्र-  
के नियमों शंका हो सकती है ।  
इसीलिये कहा है—'ब्रह्म है—ऐसा  
यदि कोई जानता है' इत्यादि ।

किन्तु 'ब्रह्म ( ब्रह्म ) है' ऐसा  
जाननेवाले पुरुषको क्या फल मिलता  
है ? इसपर कहते हैं—ब्रह्मनेतायोग  
इस प्रकार जाननेवाले इस पुरुषको  
सत् विद्यमान अर्थात् ब्रह्मरूपसे  
परमार्थ सुखानन्दको प्राप्त हुआ  
समझने हैं । तत्राय यह है कि इस  
कारणसे ब्रह्मके अस्तित्वको ज्ञाननके  
कारण वह दूसरोंके लिये ब्रह्मके  
समान जाननेयोग्य हो जाता है ।

अपना जो पुरुष ब्रह्म नहीं  
है, ऐसा मानता है वह अज्ञान  
हीनेके कारण, वर्णाश्रमादि व्यवस्था  
रूप सारे ही शुभभाग्य,

इमानतया नास्तित्व प्रतिपद्यते  
 अज्ञप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य । अतो  
 नास्तित्वः सोऽसत्प्रसाधुच्छब्दे  
 लोके । तद्विपरीतः सन्न्योऽस्ति  
 प्रत्येति चेद्वेद स तद्व्यप्रतिपत्ति  
 हेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिन्यत्र  
 स्वाच्छरणं अदधानतया यथा-  
 यप्रतिपद्यते यस्मात्तत्त्वत्वात्  
 सन्त साधुमार्गस्यमेतं विदुः  
 साधवः । तस्मादस्तीत्येष ब्रह्म  
 प्रतिपद्यमिति वाक्यार्थः ।

तस्य पूर्वस्य विद्वानमयस्यैव  
 एव शरीरे विद्वानमये भव  
 शरीर आत्मा । काऽसौ ? य एव  
 मानन्दमयः । तं प्रति नास्त्या-  
 यद्वा नास्तित्वै । अथाऽसत्त्वं  
 विद्वत्त्वानु ब्रह्मणो नास्तित्वं  
 प्रत्याशङ्क्य युक्तं । सर्वमामा-  
 न्याय ब्रह्मणः । यस्माद्ब्रह्म  
 तस्मात्, अधानन्तरं प्रातुः  
 निष्पत्त्यानुप्रभा आचार्योक्तिमनु-  
 एते प्रभा अनुप्रभाः ।

असत्त्व प्रतिपादन करत है,  
 क्योंकि वह भी ब्रह्मकी प्राप्तिके ही  
 लिये है । अतः वह नास्तिक अर्थमें  
 असत्—असत्पु कहा जाता है ।  
 इसके विपरीत को पुरुष ब्रह्म है'  
 ऐसा जानता है । वह 'सत्' है;  
 क्योंकि वह उस ब्रह्मकी प्राप्तिके  
 हेतुमत् वर्णाश्रमादिके व्यवहाररूप  
 सन्मार्गको अज्ञापूर्वक ठीक-ठीक  
 जानता है । इसीलिये उपर्युक्ते उसे  
 सत् यानी शुभ मार्गमें स्थित जानते  
 हैं । अतः 'ब्रह्म है' ऐसा ही  
 जानना चाहिये—यह इस वाक्यका  
 अर्थ है ।

उस विद्वानमयका यही शरीर—  
 विद्वानमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा  
 है । वह कौन ? यह जो आनन्दमय  
 है उसके नास्तित्वमें सो कुछ भी  
 शंका नहीं है । किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण  
 विद्वेगोत्ति रहित है इसलिये उसके  
 अस्तित्वक ब्रह्ममें शंका होना  
 उचित ही है । इसके सिवा ब्रह्मकी  
 अज्ञके साथ सम्बन्धता होनेके कारण  
 भी [ ऐसी शंका ही उचित ही ] ।  
 क्योंकि ऐसी बात है इसलिये अब  
 इसके अनन्तर अज्ञा करनेवाले  
 मिथ्याक अनुमन है । आचार्यकी  
 इस उक्तिके पश्चात् लिये जाननासे  
 ये प्रश्न—अनुमन है—

सामान्यं हि ब्रह्माकाशादि  
 विद्वत्पितृदेव कारणात्वाद्बिदुषो-  
 म्ब्रह्मसम्बन्धेन ऽबिदुषम् । तस्मात्  
 विदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते-  
 उत अपि अविद्वानसुं शोकं  
 परमात्मानमितः प्रत्य कथन,  
 चनशब्दोऽप्यर्थे, अविद्वानपि  
 गच्छति प्राप्नोति किं वा न गच्छ-  
 तीति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्ट  
 ष्योऽनुप्रश्ना इति बहुवचनात् ।  
 विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ । यद्य  
 विद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म  
 न गच्छति तथा विदुषोऽपि  
 ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते । अतस्तं  
 प्रति प्रश्न आह विद्वानिति ।  
 उकार च ब्रह्ममात्ममभस्तादप  
 कृष्य तकारं च पूर्व  
 म्मादुतशब्दाद्ब्रह्मासन्त्याहा इत्ये-  
 तन्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोन्य  
 पृच्छति—उताहा विद्वानिति ।

ब्रह्मसादिक कारण होनेसे  
 ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनों-  
 हीके लिये समान है । इतसे  
 अविद्वान्को भी ब्रह्मकी प्राप्ति होती  
 है—ऐसी आशंका की जाती है—  
 क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस  
 परिच्छेद श्रेयसेके वन्तर इस श्रेय  
 वर्धात् परमात्प्राप्ते प्राप्त हो पाता  
 है !—‘कथन’ में ‘चन’ शब्द ‘अपि  
 ( भी )’ के अर्थमें है । ‘अपि  
 नहीं होता !’ यह इसके साथ  
 दूसरा प्रश्न भी समझना चाहिये।  
 क्योंकि यहाँ ‘अनुप्रश्ना’ ऐसा बहु  
 वचनका प्रयोग किया गया है ।

अप्य दो प्रश्न विद्वान्के लियेमें  
 हैं—ब्रह्म सत्त्व सत्कारण कारण है,  
 तब भी यदि अविद्वान् उसे प्राप्त  
 नहीं होता तो विद्वान्के भी ब्रह्मको  
 प्राप्त न होनेकी आशंका होती है;  
 अतः उसके उदेष्यसे पूछा जाता  
 है—‘क्या विद्वान् भी’ आदि ।  
 [ मूल मन्त्रमें ] आगे कहे जानेवाले  
 ‘उ’ को आगेसे आँचकर वी  
 पूर्वोक्त ‘उत’ शब्दसे उसमें ‘त’  
 जोड़कर ‘आहो’ इस शब्दके पहले  
 ‘उत’ शब्द जोड़कर ‘उताहो विद्वान्’  
 इत्यदि प्रश्नरसे पूछता है—क्या

विद्वान्ब्रह्मविदपि कश्चिदितिः प्रे  
स्थां लोकां समश्नुते प्राप्नोति ।

समश्नुते ठ इत्येधंभिते,

अयादेशे यलोपे च कृत्

ऽकारस्य प्लुतिः समश्नुता ३ ठ

इति । विद्वान्समश्नुतेऽर्धुं

लोकम् । किं वा यथाविद्वानेधं

विद्वानपि न समश्नुत इत्यपरः

प्रश्नः ।

द्वाभेद वा प्रभौ विद्वदविद्व

द्विपयो । बहुवचन तु सामर्थ्य

प्राप्तप्रमान्तरापेक्षया घटते ।

असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति

ब्रह्मेति वेदोद्दे' इति भ्रमणादस्ति

नास्तीति संक्षयन्ततोऽर्धप्राप्त किं

मस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः ।

ब्रह्मणाऽपक्षपातित्वाद्बिद्वान्

गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः ।

ब्रह्मणः समत्वोऽप्यविदुष इव

कोई विद्वान् अर्पात् ब्रह्मवेत्ता भी  
इस शरीरको छोड़कर इस लोकको  
प्राप्त कर लेता है : यहाँ मूलमें  
'समश्नुते ठ' ऐसा पद था । उसमें  
'अय्' आदेश करके [ 'अपे  
शाकल्पस्य' ] इस सूत्रके अनुसार  
'य्' का अपे करके 'समश्नुत ठ'  
ऐसा प्रयोग सिद्ध होता है । फिर  
'त्' के अकारको प्लुत करनेसे  
'समश्नुता ३ ठ' ऐसा पाठ हुआ  
है । विद्वान् इस लोकको प्राप्त होता  
है : अपक्ष अविद्वान्के समान  
विद्वान् भी उसे प्राप्त नहीं होता :  
यह एक अन्य प्रश्न है ।

अथवा विद्वान् और अविद्वान्से  
सम्बन्धित ये केवल दो ही प्रश्न हैं ।  
इनकी सामर्थ्यसे प्राप्त एक और  
प्रश्नकी अपेक्षासे ही बहुवचन हा  
गया है । ब्रह्म 'असत् है—यदि  
ऐसा जानता है तथा 'ब्रह्म है—  
यदि ऐसा जानता है' ऐसी सृष्टि  
होनसे ब्रह्म है या नहीं' ऐसा  
संशय होता है । अतः ब्रह्म है या  
नहीं' यह अर्थात् प्रश्न पहला अनु  
प्रश्न है । और ब्रह्म पक्षपाती है नहीं,  
इसलिये 'अविद्वान् उसे प्राप्त होता  
है या नहीं' यह दूसरा अनुप्रश्न  
है तथा ब्रह्म समान है, इसलिये

विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्यसे किं  
विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इति  
सृतीयोऽनुग्रहः ।

एतेषां प्रतिबचनार्थमुत्तरग्रन्थ

अथ उक्तं—आरभ्यते । अत्र  
अस्ति स्वमेव तावदु  
च्यते । पञ्चोक्तम् 'सत्यं ज्ञान  
मनन्तं ब्रह्म' इति तत्र कर्म  
सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्यमितीदम्  
च्यते सम्बोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते ।  
उक्तं हि "सदेव सत्यम्" इति ।  
तस्मात्सर्वबोक्त्यैव सत्यत्वमुच्य  
ते । कथमेवमर्थतावगम्यतेऽस्य  
ग्रन्थस्य श्रुदानुगमात् । अने  
नैव अर्थेनान्वितान्युत्तराणि  
वाक्यानि "तत्सत्यमित्याच-  
क्षते" ( तै० उ० २ । ६ । १ )  
"इदेष आकाश आनन्दः स  
स्यात्" ( तै० उ० २ । ७ । १ )  
इत्यादीनि ।

अभिज्ञानके समान विद्वान्त्री भी  
ब्रह्मप्राप्तिके नियमों 'विद्वान् उते प्राप्त  
होता है या नहीं !' ऐसी शंका भी  
जाती है । यह तीसरा अनुग्रह है ।

आगेका ग्रन्थ इन प्रश्नोंका उत्तर  
देनेके लिये ही आरम्भ किया जाता  
है । उसमें सबसे पहले ब्रह्मके  
अस्तित्वका ही वर्णन किया जाता  
है । 'अस्य सत्य, ज्ञान और अनन्त है'  
ऐसा जो पहले कहा चुके हैं सो  
यह ब्रह्मकी सत्यता किस प्रकार  
है—यह बतलाना चाहिये । इस-  
पर कहते हैं—उसकी सत्य  
बतलानेसे ही उसके सत्यत्व भी  
प्रतिफलन हो जाता है । 'सत् ही  
सत्य है' ऐसा कल्पना कहा भी  
है । अतः उसकी सत्ता बतलानेसे  
ही उसका सत्यत्व भी बतलाने  
दिया जाता है । किन्तु इस ग्रन्थ-  
का भी यही तात्पर्य है—यह कैसे  
जाना गया ? इसपर कहते हैं—  
शब्दोंके अनुगमन ( अभिप्राय ) से  
क्योंकि "यह सत्य है—ऐसा कहते  
हैं" "यदि यह आनन्दमय आकारा  
न होता" आदि आगेके वाक्य भी  
इसी अर्थसे मुक्त हैं ।

तत्रासदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते ।  
 कस्मात् ? यदस्ति तद्विशेषता  
 गृह्यते यथा घटादि । यन्नास्ति  
 तन्नोपलभ्यते यथा अक्षयिण्या  
 दि । तथा नोपलभ्यते ब्रह्म ।  
 तस्माद्विशेषतोऽग्रहण्याभास्तीति ।

इसमें यह आशङ्क की जाती है  
 कि ब्रह्म वस्तु ही है । ऐसा क्यों  
 है ? क्योंकि जो वस्तु होती है वह  
 विशेषरूपसे उपलब्ध हुआ करती  
 है; जैसे कि घट आदि । और जो  
 नहीं होती उसकी उपलब्धि भी नहीं  
 होती; जैसे—अक्षयिणीदि । इसी  
 प्रकार ब्रह्मकी भी उपलब्धि नहीं  
 होती । अत विशेषरूपसे ग्रहण न  
 किया जानेके कारण वह है ही नहीं ।

तत्र; आकाशादिकारणत्वा  
 द्ब्रह्मणः । न नास्ति ब्रह्म । कस्मा  
 दाकाशादि हि सर्वे कार्ये ब्रह्मण्यो  
 भाव गृह्यते । यस्माच्च जायते  
 किञ्चित्तदस्तीति श्रुत्वा शोके; यथा  
 घटादुरादिकारणं मृत्प्रीजादि ।  
 तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति  
 ब्रह्म ।

ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्म  
 आकाशदिकारण कारण है । ब्रह्म नहीं  
 है—ऐसी बात नहीं है । क्यों नहीं  
 है ? क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ  
 आकाशादि सम्पूर्ण कार्यकार्य  
 देखनेमें आता है । जिससे किसी  
 वस्तुका जन्म होता है वह पदार्थ  
 होता ही है—ऐसा शोकमें देख गया  
 है; जैसे कि घट और अदुरादिके  
 कारण मृत्प्रीज एवं बीज आदि ।  
 अत आकाशदिकारण कारण होनेसे  
 ब्रह्म है ही ।

न चासतो स्यात् किञ्चिद्  
 गृह्यते शोके कार्यम् । असतधेना-  
 मरूपादि कार्ये निरात्मकत्वा-

शोकमें अस्तित्वसे उत्पन्न हुआ  
 कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता ।  
 यदि नाम-रूपादि कार्यकार्य असत्से  
 उत्पन्न हुआ होता तो वह निराकार



नोपलभ्येत । उपलभ्यते तु ;  
 तस्मादस्ति ब्रह्म । असत्सद्योत्कार्यं  
 गृह्यमाणमप्यसदन्वितमत्र तत्  
 स्मात् । न चैवमु; तस्मादस्ति  
 ब्रह्म तत्र । “कथमसत्तःसज्जायत”  
 ( छा० उ० ६ । २ । २ ) इति  
 ध्रुत्यन्तरमसत्तः सञ्जन्मासंमत्र  
 मन्वाचष्टे न्यायतः । तस्मात्सदेव  
 ब्रह्मेति युक्तम् ।

तद्यदि मृद्धीयादिवत्कार्यं  
 स्यादचेतनं तर्हि ?

न, कामयितृत्वात् । न हि  
 कामयितृत्वात् कामयितृत्वेतनमस्ति  
 निवचनम् । सर्वं हि  
 ब्रह्मेत्यवाचाम । अतः कामयि-  
 तृत्वात्पपत्तिः ।

होनेके कारण प्राण ही नहीं किन्तु  
 जा सकता था । किन्तु वह प्राण  
 किया ही जाता है, इसलिये ब्रह्म ही  
 ही । यदि वह कार्यकर्ता असत्से  
 उत्पन्न हुआ होता तो प्राण किन्हे  
 जानकर भी असत्आत्मक ही प्राण  
 किया जाता । किन्तु ऐसी बात है  
 नहीं । इसलिये ब्रह्म ही है । इसी  
 सम्बन्धमें “असत्से सत् कैसे उत्पन्न  
 हो सकता है” ऐसी एक अन्य  
 धृतिने युक्तिपूर्वक असत्से सत्का  
 अन्वय होना असम्भव कथक्य है ।  
 इसलिये ब्रह्म सत् ही है—यही मत  
 ठीक है ।

साङ्ख्य—यदि ब्रह्म सृष्टिकर्ता और  
 बीज आदिके सम्प्रदाय [ वास्तव्य  
 उपायाम ] कारण है तो वह अचेतन  
 होना चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह  
 कामना करनेवाला है । स्वयंसे को  
 भी कामना करनेवाला अचेतन नहीं  
 हुआ करता । ब्रह्म सर्वज्ञ है—यह  
 हम पहले कह चुके हैं । अतः  
 उसका कामना करना भी युक्त  
 ही है ।

कामपितृत्वादसदादिवदना

प्रकाममिति चेत् ?

न, स्वातन्त्र्यात् । यथान्यान्

परवशीकृत्य कामादिदोषाः

प्रवर्तयन्ति न तथा ब्रह्मणः

प्रवर्तकाः कामाः । कथं तर्हि

सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्ममृतत्वा-

द्विच्छदा न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते ।

तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म प्राणि-

कर्मपेक्षया । तस्मात्स्वातन्त्र्यं

कामेषु ब्रह्मणः । अथा नानास-

कर्मं ब्रह्म ।

साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च । किं

च यथान्येषामनात्ममृता धर्मा-

दिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्म-

प्यतिरिक्तकार्यकरणसाधनान्त-

रापेक्षाश्च न तथा ब्रह्मणो निमि-

गच्छ-कामना करनेवाला होनेसे तो वह हमारी-तुम्हारी तरह अनात्म-काम (अपूर्णकामनाकात्म) सिद्ध होग्य ।

समाधान-एसी बात नहीं है, क्योंकि वह सतन्त्र है । जिस प्रकार काम आदि दोष अन्य जीवोंको बिकृता करके प्रवृत्त करते हैं उस प्रकार वे ब्रह्मके प्रवर्तक नहीं हैं । तो वे कैसे हैं ? वे सत्य-ज्ञान स्वरूप एवं स्वात्ममृत होनेके कारण विमुक्त हैं । उनके द्वारा ब्रह्म प्रवृत्त नहीं किया जाता; बल्कि जीवोंके प्रारम्भ—कर्मोंकी अपेक्षासे वह ब्रह्म ही उनका प्रवर्तक है । अतः कामनाओंके कारणमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है । इसलिये ब्रह्म अनात्म-काम नहीं है ।

किन्हीं अन्य साधनोंकी अपेक्षा वाला न होनेसे भी कामनाओंके निमित्तमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है । जिस प्रकार धर्मादि कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाली अन्य जीवोंकी अनात्ममृत कामभारें धारण आरम्भसे अतिरिक्त देह और इन्द्रियरूप अन्य साधनोंकी अपेक्षावाली होती हैं उस प्रकार ब्रह्मको निमित्त आदिकी अपेक्षा

वाद्ययेक्षस्वम् । किं तर्हि स्वात्म-  
नोऽनन्याः ।

तदेतदाह सांस्कामयत स  
अन्ते आत्मा ब्रह्मादाकाशः  
संभूतोऽकामयत  
कामितवान् । कथम् ? बहु स्त्री  
बहु प्रभृतं स्त्रीं भवेयम् । कथमे  
कस्यार्थान्तराननुभवेषु बहुस्य  
सादित्युच्यते । प्रजायेयोत्पद्येय ।  
न हि पुत्रोत्पद्येवार्थान्तरविषय  
बहुमयनम्, कथं तर्हि ? आत्म-  
स्थानामिभ्यक्तनामरूपामिभ्य  
क्त्या । यदात्मस्थे अनमि-  
भ्यक्ते नामरूपे भ्याक्रियेते तदा  
नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागे  
नैव ब्रह्मणाप्रविभक्तवक्षकाले  
सबावस्यासु भ्याक्रियेते तदा  
तन्नामरूपभ्याकरणं ब्रह्मणा बहु  
मयनम् । नान्यथा निरवयवस्य  
ब्रह्मणा बहुत्वापचिरवयवघटेऽप्य

नहीं होती । तो ब्रह्मकी कामनारं  
कैसी होती है ? वे सामग्रीसे  
अभिन्न होती हैं ।

वहीके नियममें सृष्टि करता है—  
उत्पन्न कामना की—उस कारणसे,  
जिससे कि व्यक्तका उत्पन्न हुआ  
है, कामना की । किन्तु प्रकृत  
कामना की ? मैं बहुत—व्यक्ति  
रूपमें ही जाऊँ । अन्य पदार्थमें प्रवेश  
किये बिना ही एक वस्तुकी बहुव्य  
कैसे हो सकती है ? इसपर कहते  
हैं—‘प्रजायेय’ अर्थात् उत्पन्न होऊँ ।  
यह ब्रह्मका बहुत होना पुत्रकी  
उत्पत्तिके समान अन्य वस्तुविरुद्ध  
नहीं है । तो फिर कैसा है ? अपने-  
में अन्यरूपसे स्थित नाम-रूपके  
अभिन्नव्यक्तिके द्वारा ही [ यह अनेक  
रूप होता है ] । जिस समय  
ब्रह्ममें स्थित अन्यक्त नाम और  
रूपके भ्यक्त किये जाता है उस  
समय वे अपने स्वरूपका त्याग किये  
बिना ही समस्त अवस्थाओंमें ब्रह्मसे  
अभिन्न देश और कालमें ही भ्यक्त  
किये जाते हैं । यह नाम-रूपका  
भ्यक्त करना ही ब्रह्मका बहुत होना  
है । इसके सिवा और किसी प्रकार  
निरवयव ब्रह्मका बहुत अवयव अन्य  
होना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार

त्वं वा । यथाकाशस्वात्पस्व बहु  
त्व च वस्त्वन्तरकृतमेव । अतस्त-  
बुद्धारणैवात्मा बहु भवति ।

न सात्मनोऽन्धदनात्ममूर्तं  
तत्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मं व्यष-  
दितं विप्रकृष्टं मूर्तं भवद्भविष्यद्वा  
वस्तु विद्यते । अतो नामरूपे  
सर्वावस्थे ब्रह्मणैवात्मवती, न  
ब्रह्म तदात्मकम् । ते तत्रत्या-  
ख्याने न स्त एवेति तदात्मक  
उच्येते । साम्यां चोपाधिभ्यां  
ज्ञातृत्वज्ञानशब्दाधादिसर्वसं-  
व्यवहारभाग्ब्रह्म ।

स आरम्बकम सन्तपा-  
ऽप्यथ । तप इति ज्ञानमुच्यते ।  
“यस्य ज्ञानमयं तपः” ( सु० उ०  
१ । १ । ८ ) इति भृत्यन्तरान् ।  
आप्तकामत्वान्धतरस्यासंभव एव  
तपसः । तत्तपाऽप्यथ तप्तवान् ।

किं वाक्यशक्य वस्तुत्व और बहुत  
मी वस्तु वस्तुके ही जधीन है  
[ उसी प्रकार ब्रह्मक भी है ] । अत  
एन ( नाम-रूपों ) के द्वारा ही ब्रह्म  
बहुत हो जाता है ।

आत्मासे भिन्न अनात्ममूर्त तथा  
उससे भिन्न देश-कालमें रहनेवाली  
कोई भी सूक्ष्म, व्यषदित (ओग्याही),  
दूरस्थ, व्यपका मूर्त, वर्तमान या भविष्य-  
कासीन वस्तु नहीं है । अत सम्पूर्ण  
अवस्थाओंसे सम्बन्धित नाम और  
रूप ब्रह्मसे ही आत्मवान् हैं, किन्तु  
ब्रह्म तद्रूप नहीं है । ब्रह्मका नियम  
करनेपर वे रह ही नहीं सकते,  
इसीसे वे तद्रूप बने जाते हैं । उन  
उपाधियोंसे ही ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय और  
ज्ञान-इन शब्दोंका तथा इनके व्यप-  
कादि सब प्रकारके व्यवहारका पात्र  
बनता है ।

उस अवस्थाने ऐसी कामवाक्या  
होकर तप किया । तप शब्दसे  
यहाँ ज्ञान कहा जाया है, जैसा कि  
“भक्तिकर ज्ञानरूप तप है” इस अन्य  
सृष्टिसे सिद्ध होता है । अतःकाम  
होनेके कारण आत्माके क्रिये अन्य  
तप तो असम्भव ही है । उच्यते  
तप किया’ इसका तात्पर्य यह है

सुज्यमानजगद्रचनादिषिपयामा-  
लोचनामकरोदास्मेत्यर्थ ।

स एवमालोच्य तपस्तप्स्या  
प्राणिकर्मादिनिमित्तानुरूपमिदं  
सर्वं जगद्रेष्ठतः कालतो नाम्ना  
रूपेण च ययानुभव सर्वैः  
प्राणिमिः सर्वावस्थैरनुभूयमानम-  
सृजत सृष्टवान् । यदिदं किं च  
यत्किं चेदमविशिष्टम् । तदिदं  
जगत्सृष्ट्वा किमकरोदित्युच्यते-  
तदेव सृष्टं जगदनुप्राविष्टदिति ।

तत्रैतद्विन्त्य क्यमनुप्राविष्ट-  
णमकरोदिति । किं यः

प्रवेशः सृष्टा स तेनैवात्म-  
नानुप्राविष्टदुत्तान्येनति, किं सा-  
धयुक्तम् ? क्त्वाप्रत्ययभ्रमवशात् :

सृष्टा स एवानुप्राविष्टदिति ।

किं कारणमेतत्त्वे जानेवाले जगत्की  
रचना आदिके नियममें आच्छेदना की ।

इस प्रकार आच्छेदना कर्णत् तप  
करके उसने प्राणियोंके कर्मादि  
निमित्तोंके अनुरूप इस सम्पूर्ण  
जगत्को रचा, जो वेद, ऋग्वेद,  
नाम और रूपसे ययानुभव सारी  
वस्तुओंमें स्थित सभी प्राणियोंद्वारा  
अनुभव किया जाता है । यह जो  
कुछ है कर्णत् सामान्यरूपसे यह  
जो कुछ जगत् है इसे एकत्र करने  
क्या किया, सो बतलाने हैं- वह उस  
रूपे हुए जगत्में ही अनुप्राविष्ट  
हो गया ।

अब यहाँ यह विचारना है कि  
उसने किस प्रकार अनुप्रावेश किया ?  
जो कहा था, क्या उसने कर्णत् रूपसे  
ही अनुप्रावेश किया जबकि किसी  
और रूपसे ? इनमें कौन-सा पक्ष  
समीचीन है ? श्रुतिमें [ 'सृष्ट्वा' इस  
क्रियामें ] 'क्त्वा' प्रत्यय होनेसे ठीक  
यही ठीक बात पड़ती है कि जो सृष्टा  
था उसीमें पीछे प्रवेश भी किया ।\*

\* 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वधात्विक क्रियामें हुआ करता है । द्वितीयमें एतौ  
अर्थमें 'कर' का 'के' प्रत्यय होता है; जैसे—'उमने स्वामको बुलाकर [ या  
बुलाके ] भयप्राया । इसमें वह नियम होता है कि पूर्वधात्विक क्रिया और  
मुख्य क्रियाका कर्ता एक ही होता है। जैसे कि 'उपसृष्टं वाक्यमें पूर्वधात्विक  
क्रिया 'बुलाकर' तथा मुख्य क्रिया 'आममना' इन दोनोंका कर्ता 'आम' ही है ।

ननु न युक्तं मृद्वक्ष्येत्कारणं  
 ब्रह्म तदात्मकत्वात्कार्यस्य । कार-  
 णमेव हि कार्यस्मिन्ना परिणत  
 मित्मतोऽप्रविष्ट इव कार्योत्पत्ते  
 रूर्ध्वं पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशो-  
 ऽनुपपन्नः । न हि घटपरिणाम-  
 व्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशो-  
 ऽस्ति । यथा घटे चूर्णात्मना  
 मृदोऽनुप्रवेश एवमन्येनात्मना  
 नामरूपकार्येऽनुप्रवेश आत्मन इति  
 वेच्छुस्तन्तरात् “अनेन जीवेना-  
 त्मनानुप्रविश्य” ( छा० उ० ६ ।  
 ३ । २ ) इति ।

नैवं युक्तमेकत्वाद्ब्रह्मणः मृ-  
 दात्मनस्त्वनैकत्वात्सावयवत्वाच्च  
 युक्तो घट मृदचूर्णात्मनानु-  
 प्रवेश । मृदचूर्णस्याप्रविष्टदेश-  
 वत्त्वाच्च । न त्वात्मन एकस्य

पूर्व०—यदि ब्रह्म मृत्तिकारके  
 समान अणुत्क्य कारण है तो  
 उसका कार्य तद्रूप होनेके कारण  
 उसमें उसका प्रवेश करना सम्भव  
 नहीं है । क्योंकि कारण ही कार्यरूप  
 से परिणत हुआ करता है, अतः  
 किसी अन्य पदार्थके समान पहले  
 बिना प्रवेश किये कार्यकी उत्पत्तिके  
 अनन्तर उसमें कारणका पुनः प्रवेश  
 करना सर्वथा असम्भव है । घटरूप-  
 में परिणत होनेके सिवा मृत्तिकारक  
 घटमें और कोई प्रवेश नहीं हुआ  
 करता । हाँ, निस प्रकार घटमें चूर्ण  
 ( बाछ ) रूपसे मृत्तिकारका अनु-  
 प्रवेश होता है उसी प्रकार किसी  
 अन्य रूपसे आत्माका नाम-रूपकार्यमें  
 भी अनुप्रवेश हो सकता है, जैसा  
 कि ‘इस जीवरूपसे अनुप्रवेश करके’  
 इस अन्य द्रुतिसे प्रमाणित होता है  
 —यदि ऐसा मार्ग तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा मानना उचित  
 नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो एक ही  
 है । मृत्तिकारूप कारण तो अनेक  
 और सावयव होनेके कारण उसका  
 घटमें चूर्णरूपसे अनुप्रवेश करना भी  
 सम्भव है; क्योंकि मृत्तिकारके चूर्णका  
 उस देशमें प्रवेश नहीं है; किन्तु  
 आत्मा तो एक है; अतः उसके

इसी प्रकार अनुप्रविष्ट और सद्भा इन दोनों क्रियाओंका कर्ता भी ब्रह्म ही होना चाहिये ।

सति निरवयवत्वादप्रविष्टदेशा-

मात्वाच प्रवेश उपपद्यते । कश्च

तर्हि प्रवेश स्यात् ? युक्तञ्च प्रवेशः

भूतत्वाच्चदेवानुप्राविशदिति ।

सायम्बमेवास्तु तर्हि । साय

म्बत्वान्मुले हस्तप्रवेशवचाम-

रूपकार्ये जीवात्मानुप्रवेशो युक्त

एवति चेत् ?

नाशून्यदेशत्वात् । न हि

कार्यत्मना परिणतस्य नाम-

रूपकार्यदेशस्यतिरकेणात्मशून्यः

प्रदक्षोऽस्ति यं प्रविशेऽग्नीषात्माना ।

कारणमेव चेत्प्रविशेऽग्नीषात्मानम्

नद्यापथा घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं

नहाति । तदेवानुप्राविशदिति

च भूतर्न कारणानुप्रवेशो युक्त ।

निरवयव और उससे

बन्ना होनेके कारण उक्त

करना सम्भव नहीं है । तब नि

प्रवेश कैसे होना चाहिये ।

उक्तञ्च प्रवेश होना उचित ।

क्योंकि 'उसीमें अनुप्रविष्ट हो

ऐसी भ्रुति है ।

पूर्व०—तब तो क्या

होना चाहिये । उस

साध्य होनेके कारण मुक्तमें

प्रवेश होनेके समान उक्त

कार्यमें जीवरूपसे प्रवेश होगा

ही होगा—यदि ऐसा करें तो !

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि

शून्य कोई वेश नहीं है ।

रूपमें परिणत हुए ब्रह्मका

कार्यके देशसे अतिरिक्त और

अपनेसे अन्य देश नहीं है, जिस

उक्तञ्च जीवरूपसे प्रवेश करके

सम्भव हो । और यदि वह घटे

कि जीवात्माने कारणमें ही प्रवेश

किया तब तो वह अपने जीवरूपसे

ही त्याग देगा, जिस प्रकार मि

षका सृष्टिकार्यमें प्रवेश करनेपर

अपना घटत्व त्याग देता है । तब

'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' यह

भ्रुतिसे ही कारणमें अनुप्रवेश करके

सम्भव नहीं है ।

कार्यान्तरमेव स्यादिति चेत् ?

तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं

कार्यं नामरूपपरिणतं कार्यान्तर

मेवापघत इति चेत् ?

न; विरोधात् । न हि षटो

षटान्तरमापघते । व्यतिरेक-

श्रुतिविरोधाच्च । जीवस्य नाम

रूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः

श्रुतयो विरुध्येरन् । तदापत्तौ

मोक्षसमवाच । न हि षटो

सुष्यमानस्तदेवापघते । न हि

शुद्धापचिर्ब्रह्मस्य तस्करादेः ।

वाङ्मान्तर्मेदेन परिणतमिति

चेत्तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्या-

भारस्वेन तदन्तर्जीवात्मनापेय-

स्वेन च परिणतमिति चेत् ?

पूर्व०—किंसी अन्य कार्यमें ही प्रवेश किया—यदि ऐसा मानें तो \* अर्थात् 'तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिके अनुसार जीवात्मरूप कार्य नाम-रूपमें परिणत हुए किसी अन्य कार्यको ही प्राप्त हो जाता है—यदि ऐसी बात हो तो \*

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे विरोध उपस्थित होता है । एक घटा किसी दूसरे घटेमें जीन नहीं हो जाता । इसके सिवा [ ऐसा मानने-से ] व्यतिरेक श्रुतिसे विरोध भी होता है । [ यदि ऐसा मानेंगे तो ] जीव नाम-रूपात्मक कार्यसे व्यतिरिक्त ( भिन्न ) है—ऐसा अनुभव करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध हो जायगा और ऐसा होनेपर उसका मोक्ष होना भी असम्भव होगा । क्योंकि जो जिससे छूटनवाला होता है वह उसीको प्राप्त नहीं हुआ करता, \* जंजीरसे बँधे हुए चोर आदिक जंजीररूप हो जाना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—कही बाह्य और आन्तरके भेदसे परिणत हो गया, अर्थात् वह कारणरूप ब्रह्म ही शरीरादि व्यापाररूपसे बाह्य और जापेय जीवरूपसे उसका अन्तर्बर्ता हो गया—यदि ऐसा मानें तो ?

\* अर्थात् जीवको तो नाम-रूपात्मक कार्यसे मुक्त होना यह है फिर वह उसीको क्यों प्राप्त होगा ।



न; बहिःपुस्य प्रवेशोपपत्तेः । न  
 हि यो यस्मान्तःस्यः स एव  
 तत्प्रविष्ट उच्यते । बहिःपुस्वानु-  
 प्रवेशः स्वारप्रवेशश्चार्थस्यैवं  
 ष्टत्वात् । यथा गृहं कृत्वा  
 प्राविशदिति ।

जलसूर्यकादिप्रतिविम्बवत्प्र-  
 वेशः स्यादिति चेन्न; अपरिच्छि-  
 न्मत्वात्पूर्वत्वाच्च । परिच्छिन्नस्य  
 पूर्वस्यान्वस्यान्वत्र प्रसात्स्व-  
 भावके जलस्य सूर्यकादिप्रतिवि-  
 म्बोदयः स्यात् । न त्वात्मन ,  
 अमूर्तत्वादात्मप्रज्ञादिकारणस्या-  
 त्मनो व्यापकत्वात् । तदिप्रकृत-  
 देशप्रतिविम्बाधारवस्त्वन्तराभा-  
 वाच्च प्रतिविम्बवत्प्रवेशो न  
 युक्तः ।

एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशो न

च गत्यन्तरमुपलभामहे 'तदे

सिद्धाग्नी—नहीं, क्योंकि प्रवेश  
 बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो  
 सकता है । जो जिसके भीतर  
 स्थित है वह उसमें प्रविष्ट हुआ  
 नहीं कहा जाता । अनुप्रवेश  
 तो बाहर रहनेवाले पदार्थका ही  
 हो सकता है; क्योंकि 'प्रवेश'  
 शब्दका अर्थ ऐसा ही देखा गया  
 है, जैसे कि 'घर बनाकर उसमें  
 प्रवेश किया' इस वाक्यमें ।

यदि कहो कि जलमें सूर्यके  
 प्रतिविम्ब आदिके समान उसका  
 प्रवेश हो सकता है, तो ऐसा  
 कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जल  
 अपरिच्छिन्न और अमूर्त है । परि-  
 छिन्न और मूर्तरूप अन्य पदार्थोंका  
 ही स्वच्छस्वभाव जल आदि अन्य  
 पदार्थोंमें सूर्यकादिरूप प्रतिविम्ब  
 पड़ा करता है; किन्तु आत्माका  
 प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता; क्योंकि  
 वह अमूर्त है तथा आकाशादिक  
 कारणरूप आत्मा व्यापक भी है ।  
 उससे दूर देशमें स्थित प्रतिविम्बकी  
 व्यापारमूल अन्य वस्तुका अभाव  
 होनेसे भी उसका प्रतिविम्बके समान  
 प्रवेश होना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—तब तो आत्माका प्रवेश  
 होता ही नहीं—इसके सिद्धा  
 'तदेवानुमानिद्यत्' इस मुक्तिकी और

वानुप्राविशत्' इति श्रुते । श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम् । न चास्माद्राक्याद्यत्नवशामपि विज्ञानमुत्पद्यते । इन्तु तद्वर्णनार्थकत्वात्पोषमेतद्राक्यम् 'तत्सृष्ट्वा तदवानुप्राविशत्' इति ।

न, अन्यार्थत्वात् । किमर्थमस्याने चर्चा । प्रकृतो अन्यो विवक्षितोऽस्य वाक्यस्वार्थोऽस्ति स सर्वस्यः । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ( तै० उ० २।१।१ ) "सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म" ( तै० उ० २।१।१ ) "यो वेदनिहितं गुहायाम्" ( तै० उ० २।१।१ ) इति तद्विज्ञानं च विवक्षितं प्रकृतं च सत् । ब्रह्मस्वरूपानुगमाय चाकाशाद्यभ्रमयान्तं कार्यं प्रदर्शितं ब्रह्मानुगमधारम्भः । तत्राभ्रमपादात्मनोऽन्योऽन्तर आत्मा प्राण

कोई गति दिखायी नहीं देती । हमारे ( मीमांसकोंके ) सिद्धान्तानुसार इन्द्रियातीत विषयोंका ज्ञान होनेमें श्रुति ही कारण है । किन्तु इस वाक्यसे बहुत यत्न करनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । अत्र श्रेय है कि 'तत्सृष्ट्वा तदवानुप्राविशत्' यह वाक्य वर्षशून्य होनेके कारण त्यागने ही योग्य है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस वाक्यका अर्थ अन्य ही है । इस प्रकार अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों करते हो ? इस प्रसंगमें इस वाक्यको और ही अर्थ कहना अभीष्ट है । उसीको स्मरण करना चाहिये । "असन्नेषा परमात्माको प्राप्त कर लेता है" "अस्य सत्य, ज्ञान और अनन्त है" "जो उसे बुद्धिरूप गुहामें ठिया हुआ जानता है" इत्यादि वाक्योंद्वारा जिसका निरूपण किया गया है उस ब्रह्मका ही विज्ञान यहाँ बतलाना अभीष्ट है और उसीका यहाँ प्रसङ्ग भी है । ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त सम्पूर्ण कार्य बगैरे सिद्धाया गया है तथा ब्रह्मानुभवका प्रसङ्ग भी कुछ ही रहा है । उसमें अन्नमय आत्मासे मिलन दूसरा अन्तरात्मा प्राणमय है,

मयस्तदन्तर्मनोमयो विज्ञानमय  
इति विज्ञानगुहायां प्रवेशितस्तत्र  
चानन्दमयो विशिष्ट आत्मा  
प्रदर्शितः ।

अतः परमानन्दमयलिङ्गाभि-  
गमद्वारेणानन्दविषुद्धयवसान  
आत्मा अद्य पुच्छ प्रतिष्ठा सर्व  
षिकरूपास्पदो निर्विकल्पोऽस्मा-  
मेव गुहायामभिगन्तव्य इति  
सत्प्रवेशः प्रकल्प्यते । न अन्य  
त्रोपलभ्यते ब्रह्म निर्विशेषत्वात् ।  
विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतु  
हेतुः, यथा राशोऽन्तर्गतविशिष्ट  
संबन्धः । एवमन्तःकरणगुहात्म-  
संबन्धो ब्रह्म उपलब्धिहेतुः ।  
संनिकर्षाद्भवमासात्मकत्वाच्चान्तः  
करणस्य ।

उक्तं अन्तर्बर्ती मनोमय और फिर  
विज्ञानमय है । इस प्रकार आत्माका  
विज्ञानगुहामें प्रवेश करा दिया गया  
है और वहाँ आनन्दमय ऐसे विशिष्ट  
आत्माको प्रदर्शित किया गया है ।

इसके आगे आनन्दमय—इस  
लिङ्गके ज्ञानद्वारा आनन्दके स्वरूप-  
का अवसाममूत आत्मा जो सम्पूर्ण  
विकल्पका आद्यमूत एवं निर्विकल्प  
ब्रह्म है तथा [ आनन्दमय कोशकी ]  
पुच्छ प्रतिष्ठा है, वह इस गुहामें ही  
अनुभव किये जाने योग्य है—  
इसलिये उसके प्रवेशकी कल्पना  
की गयी है । निर्विशेष होनेके कारण  
ब्रह्म [ बुद्धिरूप गुहाके सिवा ] और  
कहीं उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि  
विशेषका सम्बन्ध ही उपलब्धिमें हेतु  
देखा गया है, जिस प्रकार कि राई  
की उपलब्धिमें अन्तःकरण अथवा सूर्य  
रूप विशेषका सम्बन्ध । इस प्रकार  
अन्तःकरणरूप गुहा और अन्तः  
का सम्बन्ध ही ब्रह्मकी उपलब्धिका  
हेतु है; क्योंकि अन्तःकरण उक्त  
समीपवर्ती और प्रकाशरूपक है ।

● जिस प्रकार अन्तःकरण और प्रकाश दोनों ही ब्रह्म हैं तथापि प्रकाश  
अन्तःकरणका अन्तःकरणको दूर करनेमें समर्थ है इसी प्रकार ब्रह्मपि अन्तःकरण और  
अन्तःकरण दोनों ही उमानरूपके ब्रह्म हैं तो भी प्रकाश ( विभिन्न प्रकृतियोंके )  
रूपमें परिणत हुआ अन्तःकरण अन्तःकरण माया करनेमें समर्थ है और इस  
प्रकार वह अन्तःकरण प्रकाशक ( ज्ञान करनेवाला ) है । इसी बातको अग्रेके  
माध्यमे स्पष्ट करते हैं ।

यथा चालोकविशिष्टा घन-  
दुपलम्बिरेवं बुद्धिप्रत्ययालोक-  
विशिष्टात्मोपलम्भिः सात्त्वसा-  
दुपलम्बिहेतौ गुहायां निहित  
मिति प्रकृतमेव । तद्वद्बुद्धिसा-  
नीये त्विह पुनस्तत्सृष्ट्वा उदेवा  
नुप्राविशदित्युच्यते ।

तदेवेदमाकाशादि कारणं कार्यं  
सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां  
बुद्धौ प्रष्टुं श्रोतुं मन्तुं विद्यात्रित्येवं  
विशेषदुपलभ्यते । स एव तस्य  
प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म ।  
अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलम्भ्यं  
वत् ।

तत्कार्यमनुप्रविश्य, किम् ?

एव सद्य मूर्तं त्यजामूर्तं  
अनात्मनः ममवत् । मूर्तामूर्तं  
शब्दाकृतनामरूपे आत्मस्थे  
अन्तर्गतेनात्मना व्याक्रियेते  
व्याकृते मूर्तामूर्तशब्दावाप्ये । ते

असि प्रकार कि प्रकारयुक्त  
घटादिकी उपलम्बि होती है उसी  
प्रकार बुद्धिके प्रत्ययरूप प्रकाशसे  
युक्त आत्माका अनुभव होता है ।  
जब उपलम्बिकी हेतुमत्त गुहामें  
वह निहित है—इसी बातका यह  
प्रसङ्ग है । उसकी वृत्ति ( व्याख्या )  
के रूपमें ही श्रुतिद्वारा 'उसे रक्षकर  
वह पीछेसे उसीमें प्रवेश कर गया'  
ऐसा कहा गया है ।

इस प्रकार इस कार्यवर्गकी  
रक्षकर इसमें अनुप्रविष्ट—सा हुआ  
आकाशादिकर कारणरूप वह ब्रह्म  
ही बुद्धिरूप गुहामें ब्रह्म, श्रोता,  
मन्ता और विद्वान्ता—ऐसा सविशेष  
रूप—सा जान पड़ता है । यही  
उसका प्रवेश करना है । जब  
वह ब्रह्म कारण है, इसलिये उसका  
व्यस्तित्व होनेके कारण उसे 'ही'  
इस प्रकार ही ग्रहण करना चाहिये ।

उसने कार्यमें अनुप्रवेश करके  
फिर क्या किया ? वह सत्—मूर्त  
और असत्—अमूर्त हो गया । अज्ञ  
के नाम और रूपकी अभिव्यक्ति  
नहीं हुई है, वे मूर्त और अमूर्त तो  
आत्मामें ही रहते हैं । उन मूर्त  
एवं 'अमूर्त' शब्दवाच्य पदार्थोंको  
उनका अन्तर्गत आत्मा केवल  
अभिव्यक्त कर देता है । अज्ञके

आत्मना त्वप्रविभक्तदशकाले  
इति कृत्वात्मा ते अभवदित्यु  
च्यते ।

किं च निरुक्तं चानिरुक्तं च ।

निरुक्तं नाम निष्कृष्य समाना-  
समानजातीयेभ्यो देशकाल

विशिष्टतयेवं तदित्युक्तमनिरुक्त  
तद्विपरीतं निरुक्तानिरुक्ते अपि

मूर्तामूर्तयोरथ विशेषणे । यथा  
सब त्पद्य प्रत्यक्षपरोक्षे, तथा

निलयनं चानिलयनं च । निल-  
यनं नीहमाभयो मूर्तस्यैव धर्मः ।

अनिलयनं तद्विपरीतममूर्तस्यैव  
धर्मः ।

त्यदनिरुक्तानिलयनान्यमूर्त  
धर्मत्वेऽपि व्याकृतविषयाण्येव ।

सर्गोत्तरकालमावभवात् । स्व-  
दिति प्राणाद्यनिरुक्तं तदेवानि

लयनं च । अतो विशेषणान्य-

देश और काल जात्नासे अभिन्न हैं  
—इसीलिये 'आत्मा ही मूर्त और  
अमूर्त हुआ' ऐसा कहा जाता है ।

तथा वही निरुक्त और अनिरुक्त  
भी हुआ । निरुक्त उसे कहते हैं  
जिसे सञ्जातीय और विजातीय  
पदार्थोंसे अज्ञा करके देश-काल-  
विशिष्टरूपसे 'वह यह है' ऐसा  
कहा जाय । इससे विपरीत लक्षणों-  
बल्लेको 'अनिरुक्त' कहते हैं ।  
निरुक्त और अनिरुक्त भी मूर्त और  
अमूर्तके ही विशेषण हैं । जिस  
प्रकार 'सत्' और 'स्यत्' क्रमशः  
'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष' को कहते हैं  
वही प्रकार 'निलयन' और 'अनि-  
लयन' भी समझने चाहिये ।  
निलयन—नीह जायात् आत्म्य  
मूर्तका ही धर्म है और उससे  
विपरीत अनिलयन अमूर्तका ही  
धर्म है ।

त्यत्, अनिरुक्त और अनिलयन-  
ये अमूर्तके धर्म होनेपर भी व्याकृत  
( व्यक्त ) से ही सम्बन्ध रखनेवाले  
हैं । क्योंकि इनकी सत्ता सृष्टिके  
अन्तर ही घुनी गयी है । त्यत्—  
यह प्राणादि अनिरुक्तका नाम है,  
वही अनिलयन भी है । अतः ये

मूर्तस्य व्याकृतविषयाभ्येवैतानि ।

विज्ञानं चेतनमविज्ञानं  
तद्द्रवितमचेतनं पापणादि सत्यं  
च व्यवहारविषयमभिस्वरान्  
परमार्थसत्यम् । एकमेव हि  
परमार्थसत्यं ब्रह्म । इह पुन  
व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यम्,  
मृगवृष्णिकाद्यनृतापेक्षबोद्धकादि  
सत्यमुच्यते । अनृतं च तद्विप  
रीतम् । किं पुन ? एतत्सर्वमभवत्,  
सत्यं परमार्थसत्यम् । किं  
पुनस्तत् ? ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं  
ब्रह्मेति प्रकृतत्वात् ।

यस्मात्सत्यदादिकं मूर्तामूर्त  
धर्मज्ञातं यत्किंचेदं सर्वमविच्छिष्टं  
विकारजातमेकमेव सञ्छन्दवान्यं  
ब्रह्मामवत्तद्व्यतिरेकेणामावाभा  
मरूपविकारस्त, तस्माच्चब्रह्म  
सत्यमित्याचक्षते ब्रह्मविदः ।

अस्ति नास्तीत्यनुप्रभः प्रकृत  
सत्य प्रतिबन्धनविषय एतदक-

ममूर्तके विद्येयण व्याकृतविषयक  
ही है ।

विज्ञान यात्री चेतन, अविज्ञान—  
उससे रहित अचेतन पापणादि  
और सत्य—व्यवहारसम्बन्धी सत्य,  
क्योंकि यहाँ व्यवहारका ही प्रसंग  
है, परमार्थ सत्य नहीं । परमार्थ सत्य  
तो एकमात्र ब्रह्म ही है । यहाँ तो  
केवल व्यवहारविषयक आपेक्षिक  
सत्यसे ही तात्पर्य है, जैसे कि  
मृगवृष्णा आदि असत्यकी अपेक्षासे  
बल आदिको सत्य कहा जाता है ।  
उपा अनुत—उस ( व्यावहारिक  
सत्य ) से विपरीत । सो फिर  
क्या ? ये सब वह सत्य—परमार्थ  
सत्य ही हो गया ? वह परमार्थ  
सत्य है क्या ? वह ब्रह्म है, क्योंकि  
'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एव अनन्त है'  
इस प्रकार उसीका प्रकरण है ।

क्योंकि सत्-त्यत् आदि जो कुछ  
मूर्त-अमूर्त धर्मजात है वह सामान्य-  
रूपसे सारा ही विकार एकमात्र  
'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म ही हुआ है—  
क्योंकि उससे भिन्न नाम-रूप विकार  
का सर्वथा अभाव है—इसलिये ब्रह्म-  
वादीभोग उस ब्रह्मको 'सत्य' ऐसा  
कहाकर पुकारते हैं ।

'ब्रह्म है या नहीं' इस अनुप्रश्नका  
यहाँ प्रसंग था । उसके उत्तरमें यह

मात्माकामयत बहु स्वामिति । स  
 यथाकार्म चाकाशादिकर्म सस्य  
 दादिलक्षण सुष्टु तदनुप्रविश्य  
 पश्यन्मृष्यन्मन्वानो विद्वान्  
 बहुभक्तसात्तदेवेदमाकाशादि  
 कर्म कार्यस्य परमे व्योमन्  
 हृदयगुहायां निहितं तत्प्रत्ययाव-  
 भासविश्लेषेणोपलभ्यमानमस्ति  
 इत्येव विद्वानीयादित्युक्तं भवति ।

उदेतसिन्धुर्षे ब्राह्मणोक्त एव  
 श्लोको मन्त्रो भवति । यथा  
 पूर्वेषु अन्नमयाधारमप्रकाशकः  
 पञ्चस्वप्नेषु सर्वान्तरतमात्मास्ति-  
 त्वप्रकाशकोऽपि मन्त्रः । कार्य-  
 द्वारेण भवति ॥ १ ॥

कहा गया था—‘आत्माने कामना की  
 कि मैं बहुत हो जाऊँ’ । वह अपनी  
 कामनाके अनुसार सत्, तद् आदि  
 अक्षरोंवाले वाक्यादि कार्यवर्गको  
 रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो ब्रह्मा,  
 मोता, मन्ता और विश्वरूपसे  
 बहुत हो गया । अत आकाशादि  
 के कारण, कार्यकर्म स्वतः,  
 परमाकाशके भीतर बुद्धिरूप गुहामें  
 छिपे हुए और उसके कर्ता-मोक्षदि  
 रूप जो प्रत्ययावभास हैं उनके द्वारा  
 विशेषरूपसे उपलब्ध होनेवाले उस  
 मन्त्रको ही ‘बह है’ इस प्रकार जाने—  
 ऐसा कहा गया ।

उस इस ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही  
 यह श्लोक यामी मन्त्र है । किस  
 प्रकार पूर्वोक्त पाँच पर्यायोंमें अन्नमय  
 आदि कोशोंके प्रकाशक श्लोक से  
 उसी प्रकार सबकी अपेक्षा आन्तरतम  
 आत्माके अस्तित्वको उसके कार्यद्वारा  
 प्रकाशित करनेवाला भी यह मन्त्र  
 है ॥ १ ॥

इति ब्राह्मणम्ब्रह्मस्य पद्योऽनुवाकः ॥ १ ॥



## सप्तम अनुवाक

ब्रह्मकी सुकृतता एव आनन्दरूपताश्च तथा ब्रह्मब्रह्मकी

अभवप्राप्तिसिद्धि वर्णन

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सद्जायत ।  
तदात्मानस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।  
यद्वै तत्सुकृतं रसो वै स । रसश्छेवाय लब्ध्वानन्दी  
भवति । को ह्येवान्यात्क प्राप्याद् यदेष आकाश  
आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । यदा ह्येवैष एत  
स्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठां विन्दते ।  
अथ सोऽभय गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुपर  
मन्तरं कुरुते । अथ तस्य भय भवति । तस्यैव मय  
विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

पहले यह [ जगत् ] असत् ( अज्ञानरूप ब्रह्मरूप ) ही था ।  
उसीसे सत् ( नाम-रूपरूपक व्यक्त ) की उत्पत्ति हुई । उस असत्मे  
स्वयं करनेको ही [ नाम-रूपरूपक जगद्रूपसे ] रचा । सक्रिये यह  
सुकृत ( स्वयं रचा हुआ ) कहा जाता है । यह जो प्रसिद्ध सुकृत है  
सो निश्चय रस ही है । इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है ।  
यदि इन्द्रयाज्ञशमे स्थित यह आनन्द ( आनन्दस्वरूप आत्मा ) न होता  
तो कौन व्यक्ति जगत् क्रिया करता और कौन प्राणन-क्रिया करता ?  
यही तो उन्हें जानन्दित करता है । जिस समय यह सावक इस जगत्  
वशरीर, अनिर्वाच्य और विनाशक ब्रह्ममें आनन्द-स्विति प्राप्त करता है



समय यह बमयको प्राप्त हो जाता है, और जब यह इसमें पोषा-स्र भी भेद करता है तो इसे मय प्राप्त होता है। यह मय ही भेदशी विद्वान्को किये मयरूप है। इसी अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत् ।

असदिति ध्याकृत-

नामरूपविशेषविष

रूपमभ्याकृतं

प्रज्ञोच्यते । न पुनरत्यन्तमेवा-

सत् । न असतः सञ्जन्मास्ति ।

इदमिति नामरूपविशेषवद्भ्याकृतं

अगदग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेर्भेदोवाप्त

च्छब्दवाच्यमासीत्, सतोऽसतो

वे सत्प्रविभक्तनामरूपविशेष-

मजायतोत्पन्नम् ।

किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति

पितृरिव पुत्रः, नेत्याह । अदस

च्छब्दवाच्यं स्वयमेवात्मानमेवा-

कुरुत कृतवत् । यथादेवं तस्मा-

द्भवैव सुकृतं स्वयंकर्तुं च्यते ।

स्वयंकर्तुं शक्नोति प्रसिद्धं लोके

सर्वकारणत्वात् ।

पहले यह [ अगत् ] वसत् ही

था। 'असत्' इस शब्दसे, जिनके

नाम-रूप व्यक्त हो गये हैं उन

विशेष पदार्थोंसे विपरीत समाववाच्य

अभ्याकृत मय कहा जाता है।

इससे [ अभ्यापुत्रादि ] अत्यन्त

असत् पदार्थ कृतजाये जाने अर्थात्

नहीं हैं, क्योंकि असत्से सत्का

जन्म नहीं हो सकता। 'इदम्'

अर्थात् नाम-रूप विशेषसे कुछ

अभ्याकृत अगत् अर्थ—पहले अर्थात्

उत्पत्तिसे पूर्व 'असत्' शब्दवाच्य

मय ही था। उस असत्से ही

सत् पानी जिसके नामरूपका

विभाग हो गया है उस विशेषकी

उत्पत्ति हुई।

तो क्या पितासे पुत्रके समान

यह कार्यवर्ग उस [ मय ] से विभिन्न

है। इसपर श्रुति कहती है—महाँ,

उस 'असत्' शब्दवाच्य मयमें सत्य

अपनेको ही रचा। क्योंकि ऐसी

बात है इसलिये यह मय ही सुकृत

अर्थात् सत्य कर्ता कहा जाता है,

सबका कारण होनेसे मय सत्य कर्ता

है—यह बात अनेकमें प्रसिद्ध है।

यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्व

सर्वात्मना तस्मात्पुण्यरूपेणापि

तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतमुच्यते ।

सर्वापि तु फलसंबन्धादि

कारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं

शोक । यदि पुण्यं यदि वान्यन्सा

प्रसिद्धिर्नित्ये चेतनवत्कारणे

सस्युपपद्यते । तस्मात्प्रति तद्ब्रह्म

सुकृतप्रसिद्धेः । इति भास्ति ।

इतः ? रसत्वात् । कुतो रसत्व

प्रसिद्धिर्ब्रह्मण इत्यत आह—

यद्वै तत्सुकृतम् । रसा वै

महत्त्वे सः । रसो नाम

रजस्तस्करं सुसिद्धतरानन्दकरो

मपुराम्लादि प्रसिद्धा साक ।

रसमेवार्थं लब्ध्या प्राप्पानन्दी

सुखी भवति । नासत आनन्द

हेतुत्वं दृष्टं साक । प्राप्पानन्द

साधनरहिता अप्यनीहा निरेण्या

अपना, क्योंकि सर्वरूप होने

से ब्रह्मन स्वयं ही इस सम्पूर्ण

जगत्की रचना की है, इसलिये

पुण्यरूपसे भी उसका कारणरूप

वह ब्रह्म 'सुकृत' कहा जाता है ।

शोकमें आ कर्य [ पुण्य अथवा

पाप ] किसी भी प्रकारसे फलके

सम्बन्धाधिक कारण होता है वही

'सुकृत' शब्दके वाच्यरूपसे प्रसिद्ध

होता है । वह प्रसिद्धि चाहे पुण्य-

रूपा हो और चाहे पापरूपा किसी

नित्य और सचेतन कारणके होनेपर

ही हो सकती है । अतः उस

सुकृतरूप प्रसिद्धिकी सत्ता होनेसे

यह सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म है ।

ब्रह्म इसलिये भी है । किसलिये ? रस-

त्वरूप होनेके कारण । ब्रह्मकी

रसस्वरूपताकी प्रसिद्धि किस कारण

से है—इसपर श्रुति कहती है—

ओ भी वह प्रसिद्ध सुकृत है वह

निश्चय रस ही है । सदा-मीठा

आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद

पदार्थ शोकमें 'रस' नामसे प्रसिद्ध

ही है । इस रसको ही पाकर पुरुष

आनन्दी वर्णात् सुखी हो जाता है ।

शोकमें किसी वस्तु पदार्थकी

आनन्दहेतुता कभी नहीं देखी गयी ।

ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष विद्वान्

बादशाहके साधनसे रहित होनेपर

प्राण्यप्या वायुरसलामादिव सा-  
नन्दा दृश्यन्ते विद्वांसः ; मूनं  
ब्रह्मव रसस्तेषाम् । तस्मादस्ति  
तत्तेषामानन्दकारणं रसब्रह्म ।

इतथास्ति, कुतः ? प्राणनादि  
क्रियादर्शनात् । अयमपि हि  
पिण्डो जीवितः प्राण्येन प्राणित्य  
पानेनापानिति । एवं वायवीया  
ऐन्द्रियकाश्च चेष्टा संवृतैः कर्म-  
करणैर्निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते ।  
तच्चैकार्थवृत्तित्वेन संहननानन्त-  
रेण चेतनमसंहतं संभवति ।  
अन्यत्रादर्शनात् ।

तदाह—तद्यदि एष आकाशे  
परमे स्योम्नि गुहायां निहित  
आनन्दा न स्यात्त भवेत्का द्रव  
साकडन्यादयानचष्टा कुर्यादि  
स्पर्धः । कः प्राण्यात्प्राणनं वा  
कुर्यात्तस्मादस्ति उद्भव । यद्यथाः

भी बाद्य रसके अमसे आनन्दित  
होनेके समान आनन्दयुक्त देखे जाते  
हैं । निश्चय उनका रस ब्रह्म ही है ।  
अत रसके समान उनके आनन्दका  
कारणरूप वह ब्रह्म ही है ।

इसलिये भी ब्रह्म है; किसलिये !  
प्राणनादि क्रियाके देखे जानेसे ।  
जीवित पुरुषका यह पिण्ड भी प्राणकी  
सहायतासे प्राणन करता है और  
अपान वायुके द्वारा अपानक्रिया  
करता है । इसी प्रकार सवातको  
प्रात हुए इन शरीर और इन्द्रियोंके  
द्वारा निष्पन्न होती हुई और भी  
वायु और इन्द्रियसम्बन्धिनी चेष्टाएँ  
देखी जाती हैं । वह वायु आदि  
अचेतन पदार्थोंका एक ही उदोत्पत्ती  
सिद्धिके लिये परस्पर संवृत ( अनु-  
कूल ) होना किन्ती असंवृत ( किन्ही-  
से भी न मिले हुए ) चेतनके विमा  
नहीं हो सकता; क्योंकि और कहीं  
ऐसा देखा नहीं जाता ।

इसी बातको धृति कहती है—  
यदि आकाश—परमकाश अर्थात्  
मुक्तिरूप गुहामें छिपा हुआ वह  
आनन्द न होता तो लोकमें कौन  
अपान-क्रिया करता और कौन  
प्राणन कर सकता; इसलिये वह  
ब्रह्म ही है, जिसके लिये कि शरीर

कार्यकरणप्राणनादिवेष्यन्तत्कृत  
एव चानन्दो लोकस्य ।

और इन्द्रियकी प्राणन आदि चेत्ये  
हो रही हैं; और उसीका किया हुआ  
आनन्द ही है ।

ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह  
परमात्मा ही लोकसे उसके भर्मा-  
नुसार आनन्दित—सुखी करता है ।  
कारण यह है कि यह आनन्दरूप  
आत्मा ही प्राणियोंद्वारा अविपासे  
परिच्छिन्न मात्रता पित्ता जाता है ।  
अविज्ञानके मय और विज्ञानके  
अमयका कारण होनेसे भी प्रसन्न है,  
क्योंकि किसी सत्य पदार्थसे अज्ञानसे  
ही अमय हुआ करता है अज्ञानके  
आश्रयसे भयका निवृत्ति होती सम्भव  
नहीं है ।

प्रसन्न अमयहेतुप्र कित्त प्रकार  
है, सा बतलाया जाता है—क्योंकि  
जिस समय भी यह सुखक इस  
प्रसन्न [ प्रसन्न—स्वप्ति अर्थात्  
अत्यन्त प्रसन्न कर लेता है । ]  
कित्त विनियोगसे युक्त प्रसन्न ?  
अदृश्यमे—दृश्य देने जानेवाले अर्थात्  
विश्वरूप नाम है; क्योंकि विश्व  
दाय जानेक ही द्रिये है; जो दृश्य न  
हो उसे अदृश्य अर्थात् अविश्व  
कहत है । इस अदृश्य—अविश्व  
अर्थात् अविश्वमूल अनात्म्य—अ-  
दृश्यमे । क्योंकि यह अदृश्य है  
इसतिथ अर्थात् भी है और क्योंकि

कृतः ? एष एव पर आत्मा  
आनन्दयात्यानन्दयति सुखयति  
लोकं धर्मानुरूपम् । स एषात्मा  
नन्दरूपाऽविषया परिच्छिन्ना  
विभाष्यत प्राणिमिरित्यर्थः ।  
मयामयहेतुत्वाद्विद्वद्विदुपारस्ति  
तद्वत् । सदस्त्वाश्रयणेन अमयं  
भवति । नासन्नवस्त्वाश्रयणेन  
मयनिवृत्तिरुपपद्यते ।

कथममयहेतुत्वमित्युच्यते—

यदा एव यसादय  
हेतुत्वात् साधक एतस्मिन्

दृष्टिं क्रियेद्विष्टेऽदृश्ये दृश्यं नाम

दृष्टव्य विध्वरा दर्शनार्थत्वाद्भि

ध्वरात् । न दृश्यमदृश्यमविकार

इत्यर्थः । एतस्मिन्नदृश्येऽविकारे

ऽविषयमून अनात्म्येऽगारार ।

यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्य

पश्चादनस्म्यं तस्मादनिरुक्तम् ।  
 विज्ञेयो हि निरुच्यते विज्ञेयश्च  
 विकारः । अविकारं च ब्रह्म,  
 सर्वविकारहेतुत्वात्तस्मादनिरुक्तम् ।  
 यत एवं तस्मादनिसर्जनं  
 निरुच्यते नीड आश्रयो न  
 निरुच्यते निसर्जनमनाधारं तस्मि  
 न्नेतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-  
 ऽनिसर्पने सर्वकार्यधर्मविलक्षण्ये  
 ब्रह्मणीति वाक्यार्थः । अमयमिति  
 क्रियाविज्ञेयम् । अभयामिति वा  
 छिन्नान्तरं परिणम्यते । प्रतिष्ठां  
 स्थितिमात्ममार्षं विन्दते उभते ।  
 अथ तदा स तस्मिन्नानात्स्वस्व  
 मयहेतोरविद्याकृतत्सादर्शनाद्  
 भयं गतो भवति ।

स्वरूपप्रतिष्ठो ब्रह्मो यदा  
 भवति तदा नान्यत्स्यत्यति ना

अशरीर है इसलिये अनिरुक्त है ।  
 निरूपण विशेषकत ही किया जाता  
 है और विशेष विकार ही होता है  
 किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण विकारका कारण  
 होनेसे स्वयं अविकार ही है, इसलिये  
 यह अनिरुक्त है । क्योंकि ऐसा है  
 इसलिये यह अनिरुच्यते है, निरुच्यते  
 आश्रयको कहते हैं जिसका निरुच्यते  
 न हो वह अनिरुच्यते यानी अनाश्रय  
 है । उस इस अदृश्य, अनात्म्य,  
 अनिरुक्त और अनिरुच्यते अर्थात्  
 सम्पूर्ण कार्यधर्मोंसे विलक्षण ब्रह्ममें  
 अभय प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आरम-  
 भावको प्राप्त करता है । उस समय  
 उसमें मयके हेतुमत्त नानात्मको न  
 देखनेके कारण अमयको प्राप्त हो  
 जाता है । मूलमें 'अमयम्' यह  
 क्रियाविज्ञेयण है\* अथवा इसे  
 'अभयम्' इस प्रकार अभय ( शी )  
 छिन्नके रूपमें परिणत कर लेना  
 चाहिये ।

जिस समय यह अमय अरूपमें  
 स्थित हो जाता है उस समय यह

न्यभ्रूयाति नान्यद्विज्ञानाति ।

नन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति

नात्मन एवात्मनो भयं युक्तम् ।

तस्मादात्मैवात्मनोऽभयकारणम् ।

सर्वता हि निर्भया ब्राह्मण्या

इह्यन्ते सरसु मयहेतुषु तच्चा-

युक्तमसति भयश्राभे ब्रह्मणि ।

तस्माद्यथाभयदर्शनादस्ति तद्

भयकारणं ब्रह्मेति ।

कदासावर्भं गतो भवति

वेत्तरज्जमेव साधको यदा ना

मयहेतुः न्यस्यभ्यत्वात्मनि

चान्तरं मेदं न कुरुते तदामर्भं

गता मबलीत्यभिप्रायः । यदा

पुनरविद्याभस्वार्थां हि यस्मा

देपाऽविद्यावानविद्यया प्रस्तुप

व्यापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीय

चन्द्रवत्त्वभ्यत्वात्मनि चैत्रस्मिन्

ब्रह्मणि तदपि, अरमन्वमप्यन्तरं

छिद्रं मददर्शनं कुरुते । मेददर्शनं

न तो और कुछ देखता है, न और

कुछ सुनता है और न और कुछ

जानता ही है । अन्यको ही अन्यसे

मय हुआ करता है, अत्मासे आत्मा-

को मय होना सम्भव नहीं है ।

अत आत्मा ही आत्माक अभयकार

कारण है । ब्राह्मण अंग ( ब्रह्मसिद्ध

पुरुष ) भयक कारणको रखते हुए

भी सब ओरसे निर्भय दिखायी दते

हैं । किन्तु मयसे रक्षा करनेवाले

ब्रह्मक न होनेपर ऐसा होना

असम्भव था । अत उन्हें निर्भय

देखनेसे यह सिद्ध होता है कि

अभयकार हेतुमूल ब्रह्म ही ही ।

यह सावक कल अभयकार प्राप्त

होता है । [ एसा प्रश्न हानपर

कहत हैं—] जिस समय यह अभ्य

कुछ नहीं देखता और अपन आत्मामें

किसी प्रकारका अन्तर-मेद नहीं

करता उस समय ही यह अभयको

प्राप्त होता है—यह इसका तात्पर्य

है । किन्तु जिस समय अविद्याभस्वा-

में यह अविद्यामूल जीव तिमिरोग्धि-

का दिखाया देनब्रह्म दूसरे अश्रमाके

समान अविद्याशाल प्रस्तुत किये हुए

परायोंको देखता है तथा इस आत्म

यामी ब्रह्ममें योडा-सा भी अन्तर—

छिद्र अर्थात् मेददर्शन करता है—

मेव हि भयकारणमल्पमपि मेदं  
पश्यतीत्यर्थः । अथ तस्माद्मेददर्श-  
नाद्देवारस्य मेददर्शिन आत्मनो  
मर्षं भवति । तस्मादात्मैवात्मनो  
भयकारणमविदुषः ।

तदेतदाह । तद्ब्रह्म स्वैव भय  
मेददर्शिनो विदुष ईश्वरोऽन्यो  
मघोऽहमन्यः संसारी इत्येवं  
विदुषो मेददृष्टमीश्वरास्यं तदेव  
प्रज्ञास्यमप्यन्तरं क्वर्षतो मर्षं  
भवत्येकरूपेनामन्वानस्य । तस्मा-  
द्विद्वानप्यविद्वानेवासी योऽप्यमे  
कममिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यति ।

उच्छेदहेतुदर्शनाद्ब्रह्मण्येवा  
मिमत्तस्य मर्षं भवति । अनु-  
च्छेदो ब्रह्मण्येव हेतुस्तत्रासत्पुच्छेद  
हेतापुच्छेद्ये न सदर्थनकार्यं भय

मेददर्शन ही भयकारण है, अतः  
तात्पर्य यह है कि यदि यह घोडा-सा  
भी मेद देखता है तो उस अज्ञानके  
मेददर्शनरूप कारणसे उसे मय होता  
है अतः अज्ञानीके किये आत्मा ही  
अज्ञानके भयकारण है ।

पहों धृति इसी बातको कहती  
है—मेददर्शी विद्वान्के किये वह मय  
ही मयरूप है । मुझसे भिन्न ईश्वर  
और है तथा मैं संसारी जीव और  
हूँ इस प्रकार उसमें घोडा-सा भी  
अंतर करनेवाले उसे एकरूपसे  
न माननेवाले विद्वान् ( मेदज्ञानी )  
क किये वह भेदरूपसे देखा गया  
ईश्वरसंज्ञक मय ही भयरूप हो  
जाता है । अतः जो पुरुष एक  
अभिन्न आत्मतत्त्वको नहीं देखता  
वह विद्वान् होमेपर भी अविद्वान्  
ही है ।

जानेकर उच्छेद्य ( माशबन् )  
माननेवालेको ही उच्छेदका कारण  
देखनेसे मय हुआ करता है ।  
उच्छेदका कारण तो अनुच्छेद्य  
( अभिमारी ) ही होता है । अतः  
यदि कोई उच्छेदका कारण न होकर  
ता उच्छेद्य पदार्थमें उसके देखनेसे

युक्तम् । सर्वं च जगद्भवत्  
 दृश्यते । तस्मात्तगतो मयदर्श-  
 नाद्द्रम्यते नूनं तदस्ति मयकारण-  
 सुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकं पतो  
 जगद्विमेतीति । तदेतस्मिन्नप्यर्थ  
 एष श्लोकश्च भवति ॥ १ ॥

होनेवाच्य मय सम्भव नहीं था ।  
 किन्तु सारा ही संसार मययुक्त  
 देखा जाता है । बात जगत्को  
 मय होता देखनेसे जाना जाता है  
 कि उसके मयका कारण तच्छेदका  
 हेतुमूल किन्तु सत्य अनुच्छेदरूप  
 का है, जिससे कि जगत् मय  
 मानता है । सो, इस वर्णमें ही यह श्लोक  
 है ॥ १ ॥

इति ब्रह्माण्डवस्तुषां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥





## अष्टम अनुवाक

वसामन्दके नितिसप्तषष्ठी मीमांसा

मीपास्माद्वातः पवते । मीपोदेति सूर्य । मीपास्मा-  
दधिञ्चेन्द्रश्च । मृत्युर्घावति पञ्चम इति । सैषानन्दस्य  
मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठे  
दृढिष्ठो घलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् ।  
स एको मानुष आनन्द । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥ १ ॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्द । श्रोत्रियस्य  
चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः ।  
स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामह-  
तस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दा । स एकः पितृणां  
चिरलोकलोकानामानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।  
ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दा । स एक  
आजानजानां देवानामानन्दः ॥ २ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां  
देवानामानन्दा । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्द ।  
ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।  
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देव-

नामानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत  
देवानामानन्दा । स एक इन्द्रस्यानन्द ॥ ६ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्या-  
नन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्द । श्रोत्रियस्य चाका  
महतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजा  
पतेरानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं  
प्रजापतेरानन्दा । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य  
चाकामहतस्य ॥ ७ ॥

इसके मयसे बसु चक्रेता है, इसीके मयसे सूर्य उदय होता है  
तथा इसीके मयसे अग्नि, इन्द्र और पौषर्षो मृत्यु दीकता है । अब यह  
[ इस ब्रह्मके ] आनन्दकी मीमांसा है—साधु क्षम्रकदावा नभमुवक,  
वेद पढा हुआ, अत्यन्त आशावान् [ कभी निराश न होनेवाला ] तथा  
अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसीकी यह मन-आत्मसे पूर्ण सम्पूर्ण  
पृथ्वी भी हो । [ उसका जो आनन्द है ] वह एक मानुष आनन्द है;  
ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं । १ ॥ वही मनुष्य-आत्मबोधक एक  
आनन्द है तथा वह अकामहत ( जो कामनासे पीड़ित नहीं है उस )  
श्रोत्रियको भी प्राप्त है । मनुष्य-आत्मबोधक जो सौ आनन्द हैं वही  
देव-आत्मबोधक एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है ।  
देव-आत्मबोधक जो सौ आनन्द हैं वही नित्यबोक्तों रहनेवाले पितृगणक  
एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । चिरबोक्त-  
निवासी पितृगणके जो सौ आनन्द हैं वही आमानव देव-आत्मबोधक एक  
आनन्द है ॥ २ ॥ और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । आमानव  
देव-आत्मबोधके जो सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव देव-आत्मबोधक, जो कि  
[ अग्निहोत्रादि ] कर्म करके देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है और

वह अक्षमहत धोत्रियको भी प्राप्त है । कर्मदेव देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही देवताओंका एक आनन्द है और वह अक्षमहत धोत्रियको भी प्राप्त है । देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्रका एक आनन्द है ॥ ३ ॥ तथा वह अक्षमहत धोत्रियको भी प्राप्त है । इन्द्रके जो सौ आनन्द हैं वही वृहस्पतिक का एक आनन्द है और वह अक्षमहत धोत्रियको भी प्राप्त है । वृहस्पतिके जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापतिक का एक आनन्द है और वह अक्षमहत धोत्रियको भी प्राप्त है । प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही अग्नि का एक आनन्द है और वह अक्षमहत धोत्रियको भी प्राप्त है ॥ ४ ॥

मीपा भवेनास्माद्वात पवते ।

मीपोदेति सूर्यः

महासुषुप्तवत्

मीपास्मादग्निमेन्द्रश्च

सुस्युर्वापति पञ्चम इति । वाता दयो हि महार्हा स्वयमीश्वराः सन्तः पवनादिकार्येष्व्यायासबहु लेषु नियताः प्रवर्तन्ते । तद्युक्तं प्रश्नास्तरि सति; यस्माच्चियमेन तेषां प्रवर्तनम् । तस्मादस्ति भय कारण तेषां प्रश्नास्तु ब्रह्म । यतस्ते मृत्या इव राक्षोऽस्माद्भ्रमणो भयेन प्रवर्तन्ते । तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म ।

इसकी मीति अर्थात् मयसे वायु चञ्चलता है इसीकी मीतिसे सूर्य उदित होता है और इसके मयसे ही अग्नि, इन्द्र तथा पौंचर्षी मृत्यु रोकता है । वायु आदि देवता परमपूजनीय और सूर्य समर्प होने पर भी अल्पत छमस्यप्य वज्जने आदिके कर्ममें नियमनुसार प्रवृत्त हो रहे हैं । यह बात उनका कोई शासक होनेपर ही सम्भव है । क्योंकि उनका नियमसे प्रवृत्ति होती है इसलिये उनके मयका कारण और उनपर शासन करनेवाला ब्रह्म है । जिस प्रकार राजाके मयसे सेवक श्लेष अपने-अपने कामोंमें लगे रहते हैं उसी प्रकार वे इस ब्रह्मके मयसे प्रवृत्त होते हैं, वह उनके मयका कारण ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ।

१ पूर्वोक्त वायु आदिके कर्मसे गमना किये जानेपर पौंचर्षी होनेके कारण मृत्युका पौंचर्षी करा दे ।

तस्यास्य ब्रह्मण आनन्दस्वैपा  
 मीमांसा विचारणा  
 भवेत् । किमान-  
 न्दस्य मीमांसामित्युच्यते ।  
 किमानन्दो विषयविषयिसंबन्ध  
 अनितो लौकिकानन्दबदाहोस्वित्  
 स्वामाधिक इत्येवमेवानन्दस्य  
 मीमांसा ।

तत्र लौकिक आनन्दो वाद्या  
 व्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त  
 उत्कृष्टः । स च एव निर्दिश्यते  
 ब्रह्मानन्दानुगमार्थम् । अनेन हि  
 प्रसिद्धेनानन्देन व्यावृत्तविषय  
 बुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तु  
 शक्यते ।

लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्द  
 स्वैव मात्रा अविषया तिरस्कृत्य  
 माप्ते विज्ञान उत्कृष्टमाषाभां  
 वाविषयायां ब्रह्मादिभिः कर्म-  
 बशाद्ययाविज्ञानं विषयादिसा  
 धनसंबन्धबशाद्य विमाप्यमानस्य  
 स्रोकेऽनदस्थितो लौकिका संप

उस इस ब्रह्मके आनन्दकी यह  
 मीमांसा—विचारणा है । उस  
 आनन्दकी क्या बात विचारणीय है,  
 इसपर कहते हैं—क्या वह  
 आनन्द लौकिक सुखकी भाँति  
 विषय और विषयको ग्रहण करने  
 वालेके सम्बन्धसे होनेवाला है अपना  
 साम्याधिक ही है ।<sup>१</sup> इस प्रकार यही  
 उस आनन्दकी मीमांसा है ।

उसमें जो लौकिक आनन्द बाद्य  
 और शारीरिक साधन-सम्पत्तिके  
 कारण उत्कृष्ट मिला जाता है  
 ब्रह्मानन्दके ज्ञानके लिये यहाँ  
 उसीका निर्देश किया जाता है ।  
 इस प्रसिद्ध आनन्दके द्वारा ही  
 त्रिसूत्री बुद्धि नियोजित होती हुई  
 है उस ब्रह्मके लिये अनुभव होनेवाले  
 आनन्दका ज्ञान हो सकता है ।

लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्दका  
 ही अंश है । अविषयासे विज्ञानके  
 तिरस्कृत हो जानेपर और अविषयाका  
 उत्कर्ष होनेपर प्राकृत कर्मबश  
 विषयादि साधनोंके सम्बन्धसे ब्रह्म  
 कादि जीनोंद्वारा अपने-अपन विज्ञान-  
 अनुसार भावना किया जानेके कारण  
 ही यह जो कर्म अस्तिर और लौकिक

यते । स एवाविद्याऽहमकार्षीण  
 कर्षेण मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तर  
 भूमिष्वहमहस्तविद्वद्भूत्रियप्र  
 त्यक्षो विभास्यते द्रुतगुणोत्तरो-  
 त्तरोत्कर्षेण यावद्विरप्यगर्मस्य  
 ब्रह्मण आनन्द इति । निरस्ते  
 स्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे  
 विषया स्वाभाविक परिपूर्ण  
 एक आनन्दोऽद्वैतो भवतीत्येत-  
 यर्थं विभावविष्यभाह ।

युवा प्रथमववाः साधुयुवेति  
 साधुभाषी युवा वेति यूनां  
 विद्वेषणम् । युवान्वसाधुर्मवति  
 साधुरप्ययुवातो विद्वेषणं युवा  
 स्वात्साधुयुवेति । अभ्यापका-  
 ऽधीतवेदः । आशिष्ठ आश्रास्त  
 तमः । वडिष्ठ वडतमः । बडिष्ठ  
 बडतमः । एवमाप्यात्मिक  
 साधनसंपन्नः । तस्यैव पृथिव्युर्वी

आनन्द हो जाता है । कर्मकार्णसे  
 परामृत न होनेवाले सिद्धम् श्रेष्ठिय-  
 को प्राप्त्य बनुमन होनेका वह  
 महाानन्द ही मनुष्य-गन्धर्व यदि  
 आगे-आगेकी भूमियोंमें द्विरप्यगर्म-  
 पर्यन्त कविता, कर्मणा और कर्मका  
 हास होनेसे उत्तरोत्तर सौ-सौ गुने  
 उत्कर्षसे आविर्भूत होता है । तथा  
 विद्याद्वारा धनिकाजनित विषय-विषयि-  
 विभागके मिश्रण हो जानेपर वह  
 साम्यविक परिपूर्ण एक और अद्वैत  
 आनन्द हो जाता है—इसी अर्थको  
 समझानेके लिये श्रुति कहती है—

जो युवा अर्थात् पूर्ववपत्क,  
 साधुयुवा अर्थात् जो साधु भी हो और  
 युवा भी—इस प्रकार साधुयुवा  
 शब्द 'युवा' का विशेषण है अर्थात्  
 युवा भी असाधु हो सकता है और  
 साधु भी असुख हो सकता है,  
 इसीलिये 'जो युवा हो—साधुयुवा  
 हो' इस प्रकार विशेषणरूपसे कहा है ।  
 तथा अभ्यापक—वेद पदा इहम्,  
 आशिष्ठ—अप्यन्त आश्रास्त  
 वडिष्ठ—अप्यन्त वड और बडिष्ठ—  
 अदि बडयान् हो; इस प्रकार जो  
 इन आप्यात्मिक साधनसे सम्पन्न  
 हो और उत्कीर्ण, यह धनसे अर्थात्

सर्वा विचस्य विचेनोपभोगसाध  
नेन दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्म  
साधनेन सपत्न्या पूर्णा राधा  
पृथिवीपतिरित्यर्थः । तस्य च य  
जानन्दः स एको मानुषां मनु  
ष्याणां प्रकृत एक जानन्दः ।

उपभोगके साधनसे तथा शैक्षिक  
और पारलौकिक कर्मके साधनसे  
सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी हो-अर्थात्  
जो राज्य यानी पृथिवीपति हो।  
उसका जो जानन्द है वह एक  
मानुष जानन्द यानी मनुष्योंका  
एक प्रकृत जानन्द है ।

ते मे द्युत मानुषा जानन्दाः  
स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः॥  
मानुषानन्दाच्छतगुणेनास्कृतो  
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दो भवति ।  
मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषा-  
द्गन्धर्वस्वप्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः ।  
ते द्युतर्वाणादिशक्तिसंपन्नाः  
सूक्ष्मकार्यकरण्या । तस्मात्प्रति  
पाठान्पस्वं तेषां द्युत्प्रतिपात्त  
शक्तिसाधनसपत्तिश्च । ततो-  
ऽप्रतिहन्यमानस्य प्रतीकारवतो  
मनुष्यगन्धर्वस्य स्थापितप्रसाद ।  
तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभि

ऐसे जो सौ मानुष जानन्द हैं  
वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक जानन्द  
है । मानुष जानन्दसे मनुष्य-गन्धर्वों-  
का जानन्द सौ गुना उत्कृष्ट होता  
है । जो पहले मनुष्य होकर फिर  
कर्म और उन्नतताकी विद्येस्तासे  
गन्धर्वत्वको प्राप्त हुए हैं वे मनुष्य-  
गन्धर्व कहलाते हैं । वे अन्तर्धानादि  
की शक्तिसे सम्पन्न तथा सूक्ष्म-शरीर  
और इन्द्रियेमे युक्त होते हैं, इसलिये  
उन्हें [ शीघ्रोष्णाणि द्युत्कोश ] योका  
प्रतिपात होत्र है तथा वे  
द्युत्कोश सामन्ता करनेवासे सामर्थ्य  
और साधनसे सम्पन्न होते हैं ।  
अतः उस शक्तिशाली द्युत्से  
प्रतिहत न होनेकले तथा [ उसका  
भाषातः जानेज्यु उसका प्रतीकार  
करणमें समर्थ मनुष्यगन्धर्वका विश्व  
प्रसाद प्राप्त होता है और उस  
प्रसादविशेषमे उसके सुखविशेषकी

भ्यक्तिः । एवं पूर्वसा पूर्वसा  
भूमेठपरस्यामुत्तरस्यां भूमौ  
प्रसादविद्येपतः क्षतगुणेनानन्दो  
त्कर्षं तपपद्यते ।

प्रथम स्वकामइवाग्रहणं मनु  
प्यविषयभोगकामानमिदृशस्य  
धोत्रियस्य मनुष्यानन्दाच्छ्रुत  
गुणेनानन्दोत्कर्षो मनुष्यगर्भवेण  
सुख्यो वक्तव्य इत्येवमर्थम् ।  
साधुयुवाच्यायक इति भोत्रिय  
स्वाभूमिनत्वे गृह्येते । ते यदि  
श्रिष्टे सर्वत्र । अकामइतत्वं तु  
विषयारकर्षापकपतः सुखात्कपा-  
वकृपाय विद्येभ्यते अवाऽकाम  
इगग्रहणम्, तद्विद्येपत क्षतगुण

अभिम्यक्ति होती है । इस प्रकार  
पूर्व-पूर्व भूमिकी अपेक्षा आगे-आगे  
की भूमिमें प्रसादकी विशेषता होने-  
से सौ-सौ गुने आनन्दका उत्कर्ष  
होना सम्भव ही है ।

[ आगेके सब वाक्योंके साथ  
रहनेवाच्य ] 'धोत्रियस्य चाक्रामह  
तस्य' यह वाक्य पहले [ मनुज  
आनन्दके साथ ] इसलिये प्रहण  
महीं किया गया कि विषय-भोग  
और कामलाओसे व्यापुल्य न रहने  
वाले धोत्रियके आनन्दका उत्कर्ष  
मनुज आनन्दकी अपेक्षा सौ गुना  
अर्थात् मनुष्यगर्भके आनन्दके  
तुल्य बतजाना है । धृतिमें 'सप्त  
पुत्र' और 'अप्यायक' ये दो विशेषण  
[ सार्वभौम राजाका ] धात्रिय  
और निष्पाप्य प्रशंसित करनेके  
लिये प्रहण किये जाने हैं । एवं  
आगे भी सबके साथ समानास्यसे  
समझना चाहिये । विषयके उत्कर्ष  
और अकर्षसे सुखका भी उत्कर्ष  
और अकर्ष होता है [ किन्तु  
कामकारित पुरुषके लिये सुख  
उत्कर्ष या अकर्ष हुआ नहीं  
करता ] इसीलिये अकामइतत्वंकी  
विशेषता है । और इसीसे  
'अकामइत' पद प्रहण किया गया  
है । अब उससे मिलित प्रायके

सुखोत्कर्षोपलब्धेरकामहृतत्वस्य  
परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधाना-  
र्थम् । व्याख्यातमन्यत् ।

देवगन्धर्वा जातित एव ।  
धिरलोकलोकानामिति पितॄणां  
विशेषणम् । धिरकालस्थायी  
लोको येषां पितॄणां ते धिर  
लोकलोक इति । आनान इति  
देवलोकस्तस्मिन्नानाने जाता आ-  
नानवा देवाः सार्वकर्मविशेषतो  
देवस्थानेषु जाता ।

कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्ममा-  
धिहोत्रादिना केवलेन देवान-  
पियन्ति । देवा इति प्रयस्त्रिंश  
इतिर्बुजः । इन्द्रस्तेषां स्वामी  
तस्याचार्यो बृहस्पतिः । प्रजा  
पतिर्विराट् । त्रैलोक्यधारी प्रजा  
समष्टिम्यष्टिरूपः संसारमण्डल  
व्यापी ।

यत्रैत आनन्दमेदा एकता  
गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमिषा ज्ञान

सुखक सौगुना उत्कर्षं देखा जाता  
है, अतः अक्षरमहत्त्वको परमानन्द  
की प्राप्तिका साधन अक्षरमेके किये  
'अक्षरमहत्' विशेषण प्राण किया  
है और सबकी व्याख्या पहले की  
जा चुकी है ।

देवगन्धर्व-जो जन्मसे ही गन्धर्व  
हों धिरलोकलोकानाम् ( धिरस्थायी  
लोकमें रहनेवाले ) यह पितृगणका  
विशेषण है । जिन पितृगणका  
धिरस्थायी लोक है वे धिरलोक-  
लोक कहे जाते हैं । 'आनान'  
देवलोकका नाम है, उस आनानमें  
जो उत्पन्न हुए हैं वे देवगण  
'आनानज' हैं, जो कि सार्व कर्म-  
विशेषके कारण देवस्थानमें उत्पन्न  
हुए हैं ।

जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक  
कर्मसे देवमाकरो प्राप्त हुए हैं वे  
'कर्मदेव' कहलाते हैं । जो तीस  
देवगण यज्ञमें इतिर्बुज केनवाले हैं  
वे ही यहाँ 'देव' शब्दसे कहे गये हैं ।  
सनका स्वामी इन्द्र है और इन्द्रका  
गुरु बृहस्पति है । 'प्रजापति' का  
वर्ष त्रिंशत् है, तथा त्रैलोक्यधरि  
धारी प्रजा है जो समष्टि-म्यष्टिरूप  
और समस्त संसारमण्डलमें व्याप्त है ।

जहाँ ये आनन्दके भेद एकताकी  
प्राप्त होते हैं [ अर्थात् एक  
ही जिन जाते हैं ] तथा जहाँ



य तद्विषयमकामहृत्स्वं य नि  
रविद्ययं यत्र स एष हिरण्यगर्भो  
ब्रह्मा, तस्यैव आनन्दः श्रोत्रि  
धेणावृत्तिनेनाकामहृत्सेन च सर्वतः  
प्रस्यञ्छमुपलभ्यते । तस्मादेतानि  
श्रीणि साधनानीत्यवगम्यते ।  
तत्र श्रोत्रियत्वावृत्तिनत्वे  
नियते अकामहृत्स्वं दृष्टुम्यत  
इति प्रकृष्टसाधनतावगम्यते ।

तस्माकामहृत्स्वप्रकर्षतश्चोपल  
म्बमानः श्रोत्रियप्रस्यञ्चो प्रकृष्ट  
आनन्दो यस्य परमानन्दस्य  
मात्रैकदेशः । "एतस्यैवानन्द  
स्यान्यानि मृतानि मात्रामुप-  
धीवन्ति" ( बृ० उ० ४ । ३ ।  
३२ ) इति ध्रुत्पन्तरात् । स एष  
आनन्दा यस्य मात्राः समुद्राम्भस  
इव विप्रुयः प्रविमक्ता पत्रैकता

उत्सृजे होनेवाली धर्म एवं ज्ञान तथा  
तद्विषयक अकामहृत्स्व सबसे बड़े  
हुए हैं यह वह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्म  
है उसका यह आनन्द श्रोत्रिय,  
निष्पाप वीर अकामहृत्स्व पुरुषादार्य  
सर्वत्र प्रस्यञ्च उपलब्ध किया जाता  
है । इससे यह जाना जाता है कि  
[ निष्पापत्व, अकामहृत्स्व और  
श्रोत्रियत्व ] ये तीन उसके सामन  
हैं । इनमें श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व  
दो निष्पत्त ( न्यूनाधिक न होनेवाले )  
धर्म हैं किन्तु अकामहृत्स्वत्व  
उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है, इसलिये  
यह प्रकृष्ट-साधनरूपसे मान्य  
जता है ।

उस अकामहृत्स्वके प्रकर्षसे  
उपलब्ध होमकाम तथा श्रोत्रियके  
प्रस्यञ्च अनुभव होनेवाला वह अकाम  
आनन्द जिस परमानन्दकी मात्रा  
अर्थात् केवल एकदेशमात्र है, वैसे  
कि ' इस आनन्दके क्षेत्रसे ही अन्य  
प्राणी जीवित रहते हैं' इस अन्य  
धृतिसे सिद्ध होता है, यह वह  
हिरण्यगर्भक आनन्द, जिस  
की मात्राएँ ( केवलात्र आनन्द )  
समुद्रके अकम्पी बूँदोंके समान  
विभक्त हो पुनः उसमें एकत्रकी

यथाः स एष परमानन्दः स्वा प्राप्तिं हर्षं हि क्वही जडैतरूप होने  
 भाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दि से सामाजिक परमानन्द है । इसमें  
 नोभाविभागोऽत्र ॥ १-४ ॥ ज्ञानन्द और ज्ञानन्दीका अभेद  
 ॥ १-४ ॥

ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिकर उपसंहार

तदतन्मीमांसाफलमुपसंहियते- | क्व इस मीमांसाके फलका  
 उपसंहार किया जाता है—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स च  
 एवंविदस्माच्छ्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति ।  
 एत प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मान  
 मुपसंक्रामति । एत विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एत  
 मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको  
 भवति ॥ ५ ॥

यह, जो कि इस पुरुष ( पञ्चकोशात्मक देह ) में है और जो  
 यह आदित्यके अन्तर्गत है, एक है । यह, जो इस प्रकार जाननशक्त है,  
 इस शक ( इन्द्र और अइन्द्र विरपसमूह ) से निवृत्त होकर इस अन्नमय  
 आत्माको प्राप्त होता है [ अर्थात् विरपसमूहके अन्नमय केशसे घृणक्  
 नहीं दमता ] । इसी प्रकार यह इस प्राणमय आत्माको प्राप्त होता है,  
 इस मनोमय आत्माको प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्माको प्राप्त  
 होता है एवं इस ज्ञानन्दमय आत्माको प्राप्त होता है । उहीके विरपमें  
 यह श्लोक है ॥ ५ ॥

या गुहायां निहित परमे | या अकारणमे सिद्ध अन्नमय  
 प्योम्न्याकाशादि मशशर्पस्त कर्पयते स्वका करक  
 ५१११ उसमें अनुप्रविष्ट हुआ परमाकारणके  
 ५१११ अथ सुश्रान्नमया भीतर मुद्रित्य गुहायें स्थित है

न्तं तदेवानुप्रविष्टः स य इति  
निर्दिश्यते । कोऽसौ ? अयं पुरुषे,  
यथासावादित्ये यः परमानन्दः  
भोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टो यस्यैक-  
देशं ब्रह्मादीनि भूतानि सुखा-  
र्हाण्युपजीवन्ति स यथासावा-  
दित्य इति निर्दिश्यते । स एको  
मिन्नप्रदेशस्वघटाकाशैकत्ववत् ।

ननु तन्निर्देशे स यथायं  
पुरुष इत्यविशेषतोऽप्यात्म न  
युक्तो निर्देशः यथायं दक्षिणे-  
ऽध्वन्निति तु युक्तः, प्रसिद्धत्वात् ।

न, पराभिस्तरात् । परो  
द्यात्मानाबिकृताऽदृश्येऽनात्म्ये  
भीपाक्षाद्वात् पवत सैवानन्दस्य  
भीमांसेति । न अस्मादिप्रकृता

उसीका 'स य' ( वह जो ) इन  
पदोंद्वारा निर्देश किया जा रहा है ।  
वह कौन है ! जो इस पुरुषमें है  
और जो भोत्रियके क्रिये प्रत्यक्ष  
वतकाम्य हुआ परमानन्द आदित्यमें  
है, जिसका एक देशके आभयसे ही  
सुखके पात्रीमूत लब्ध आदि जीव  
जीवन धारण करते हैं उसी आत्म  
को 'स यथासावादित्ये' इन पदों-  
द्वारा निर्दिष्ट किया जा रहा है ।  
मिन्न प्रदेशस्य घटाकाश और  
महाकाशके एकत्वके समान [ उन  
दोनों उपविषोमें स्थित ] वह  
आनन्द एक है ।

सङ्ग—किन्तु उस आनन्दका  
निर्देश करनेमें 'वह जो इस पुरुषमें  
है' इस प्रकार सामान्यरूपसे व्यञ्जन  
पुरुषका निर्देश करना उचित नहीं  
है, बल्कि 'जो इस दक्षिण क्षेत्रमें है'  
इस प्रकार कहना ही उचित है;  
क्योंकि ऐसा ही प्रसिद्ध है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँपर  
आत्मका अधिकरण है । 'अदृश्ये-  
ऽनात्म्ये' 'भीमास्माद्वात् पवते' तथा  
'सैवानन्दस्य भीमांसा' आदि वाक्यों-  
का अनुसार यहाँ परमात्मका ही  
प्रकरण है । अतः जिसका कर्ता  
प्रसङ्ग नहीं है उस [ दक्षिणक्षेत्रस्य

युक्तो निर्दिष्टम् । परमात्मविज्ञानं

च विवक्षितम् । तस्मात्पर एव

निर्दिश्यत 'स एकः' इति ।

नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता

तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम् ।

अमिन्नः स्वामात्रिक आनन्दः

परमात्मैव न विषयविषयि

सबन्धवन्ति इति ।

ननु तदनु रूप एवार्थ निर्देशः

'स ब्रह्माय पुरुष यथासावादित्ये

स एकः' इति मिन्नाधिकरणस्य

विशेषापमर्देन ।

नन्वेवमप्यादित्यविशेषग्रहण

मनर्थकम् ।

नानर्थकम्, उत्कर्षापकर्षा-

पाहार्यत्वात् । इतस्त हि मूर्ता-

मूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवि

प्रम्यन्तर्गतः स चेत्युत्पत्तौ

पुरुष ] का अकस्मात् निर्देश परमा  
उचित नहीं है । यहाँ परमात्माका  
विज्ञान वर्णन करना ही अभीष्ट है;  
इसलिये वह एक है' इस वाक्यसे  
परमात्माका ही निर्देश किया  
जाता है ।

सङ्गा—यहाँ तो आनन्दकी  
मीमांसाका प्रकरण है, इसलिये  
उसके फलका उपसंहार भी करना  
ही चाहिये, क्योंकि अज्ञान  
और सामाजिक आनन्द परमात्मा  
ही है, वह विषय और विषयिके  
सम्बन्धसे होनेवाला आनन्द नहीं है ।

मध्यस्थ—'बो आनन्द इस पुरुषमें  
है और वो इस आदित्यमें है वह  
एक है' इस प्रकार भिन्न वाक्योंमें  
स्थित विशेषका निराकरण करके  
वो निर्देश किया गया है वह तो  
इस प्रसंगके अनुरूप ही है ।

सङ्गा—किन्तु, इस प्रकार भी  
'आदित्य' इस विशेष पदार्थका ग्रहण  
करना व्यर्थ ही है !

समाधान—उत्कर्ष और अपकर्षका  
नियम करनेके लिये होनेका कारण  
वह व्यर्थ नहीं है । मूर्त और अमूर्तरूप  
इतका परम उत्कर्ष सूक्ष्म अन्तर्गत  
है वह यदि पुरुषका विशेषके वाच-

विज्ञापामर्देन परमानन्दमपेक्ष्य  
 समो भवति न कश्चिदुत्कर्षोऽप-  
 र्षो वा तां गतिं भवत्येस्यमयं  
 प्रतिष्ठां विन्दत इत्युपपन्नम् ।

अस्ति नास्तीत्यनुप्रभा व्या-  
 प्तिः । कर्मरस  
 विद्यामयदर्शनोपपत्तिभ्योऽस्त्येष  
 तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपा-  
 कृतोऽनुप्रभ एकः । दावन्मात्र  
 अनुप्रभौ विद्वद्विदुषोर्भेदप्राप्त्य  
 प्राप्तिविक्रमौ तत्र विद्वान्समस्तुते  
 न समस्तुत इत्यनुप्रभोऽस्त्यस्त-  
 द्वाकरबापोच्यते । मध्यमोऽनु  
 प्रभोऽस्त्यपापाकरबादेवापाकृत  
 इति तदपाकरबाप न यत्कते ।

स यः कश्चिदेवं बभूवर्षं ब्रह्म  
 तस्तुज्योत्कर्षोपकर्षमद्वैतं सत्यं  
 ज्ञानमनन्तमसीत्येवं वेत्ती

द्वारा परमानन्दकी अपेक्षा उसके  
 तुल्य ही सिद्ध होता है तो उस  
 गतिको प्राप्त हुए, पुनश्च कोई  
 उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं रहता और  
 वह निर्भय स्थितिको प्राप्त कर लेता  
 है, अतः वह फलन उचित ही है ।

ब्रह्म ही या नहीं—इस अनुप्रभकी  
 व्याख्या कर दी गयी । कर्मरस  
 रसकी प्राप्ति, प्राप्ति, अन्वय-प्रतिष्ठा  
 और भवदर्शन आदि पुक्तियोंसे वह  
 आकाशादिकारण कारणरूप ब्रह्म है  
 ही—इस प्रकार एक अनुप्रभका  
 निराकरण किया गया । दूसरे को  
 अनुप्रभ विद्वान् और अविद्वान्की  
 ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मकी अप्राप्तिके  
 नियमों हैं । उनमें अन्तितम अनुप्रभ  
 यही है कि विद्वान् ब्रह्मको प्राप्त  
 होता है या नहीं ।' उसका निरा-  
 करण करनेके लिये कहा जाता है ।  
 मध्यम अनुप्रभका निराकरण तो  
 अन्तितमके निराकरणसे ही हो  
 जायगा; इसलिये उसके निराकरणका  
 फल नहीं किया जाता ।

इस प्रकार जो कोई उत्कर्ष और  
 अपकर्षको त्याग कर धै ही उपयुक्त  
 स्वयं, ज्ञान और अमन्तरूप अद्वैत ब्रह्म  
 है' ऐसा जानता है वह एवमिदं

त्येवंवित् । एतन्नन्दस्य प्रकृत

परामर्शार्थत्वात् । स किम् ?

असास्त्रोक्तास्येभ्य इष्टादृष्टेभ्य

पयसमुदायो इय लाकस्तसा

स्त्रोक्तास्य प्रत्यावृत्त्य निरपेक्षा

मूर्त्तैर्त यथाभ्यास्यावमन्नमय

मारमानमुपसंक्रामति । विषयजात

मन्नमयात्पिण्डात्मना व्यतिरिक्तं

न पश्यति । सर्वं स्थूलभूतमज-

मयमारमानं पश्यतीत्यर्थः ।

ततोऽम्बन्तरमतं प्राणमयं

सर्वात्ममयात्ममयमविभक्तम् ।

अथैतं मनोमयं विज्ञानमयमा

नन्दमयमारमानमुपसंक्रामति ।

अथाहम्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिरु-

यनेऽभय प्रतिष्ठां विन्दते ।

तत्रैतन्विन्त्यम् । काश्यमेवं

दत्तमनाऽन्य संक्रमणकर्ता प्रथि

मक्त उत स एवेति ।

(इस प्रकार जाननबाका) है, क्योंकि

‘एकम्’ शब्दप्रसंगमें आय इष्ट पदार्थ-

का परामर्श ( निर्देश ) करनेके

लिये हुआ करता है । वह एवंवित्

क्या [ करता है ] ? इस लोकसे

जाकर—इष्ट और अइष्ट इष्ट विषयो-

का समुदाय ही यह लोक है, उस

इस लोकसे प्रत्य-प्रत्याकर्षण करके

( छीटकर ) अर्थात् उससे निरपेक्ष

होकर इस ऊपर व्याख्या किये हुए

अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है ।

अर्थात् वह विषयसमूहको अन्नमय

शरीरसे भिन्न नहीं देखता तत्पर्य

यह है कि सम्पूर्ण स्थूल मूलवर्गके

अन्नमय शरीर ही समग्रता है ।

उसके भीतर वह सम्पूर्ण अन्नमय

कोशमें स्थित विभाजन प्राणमय

आत्माको देखता है । और फिर

क्रमशः इस मनोमय, विज्ञानमय और

एनीयनुवम-  
विषय

वित्कर्ष वा संक्राम-  
तीति । किं परस्मा-

दत्तमनाऽन्य संक्रमणकर्ता प्रथि  
मक्त उत स एवेति ।

यह इस प्रकार जाननबाका है कौन ?

और यह किस प्रकार संक्रमण करता

है ? यह संक्रमणकर्ता परमरामे

भिन्न है अथवा अतः ही है ।

किं तवः ?

यद्यन्वः स्वान्धुतिविरोधः ।  
 “तस्तुष्ट्य तदेवानुप्राविषत्”  
 ( तै० उ० २ । ६ । १ ) “अ  
 न्योऽसाबन्वोऽमसीति । न स  
 वेद” ( बृ० उ० १ । ४ । १० )  
 “एकमेवाद्वितीयम्” ( छा० उ०  
 ६ । २ । १ ) “तत्त्वमसि”  
 ( छा० उ० ६ । ८-१६ ) इति ।  
 अथ स एव, आनन्दमयमात्मानमु-  
 पसंक्रामतीति कर्मकर्तृत्वानुप-  
 पत्तिः, परस्यैव च संसारित्वं  
 परमात्नो वा ।

यद्युभयथा प्राप्ता दोषो न  
 परिहर्तुं शक्यत इति व्यर्था  
 चिन्ता । अथान्यतरस्मिन्पक्षे  
 दोषाप्राप्तिस्त्वृतीये वा पक्षेऽद्रुष्टे  
 स एव शास्त्रार्थ इति व्यर्थैव  
 चिन्ता ।

न; तन्निवारणार्थत्वाद् । सत्यं

पूर्व०—इस विचारसे अम  
 क्या है !

सिद्धान्ती—यदि वह उससे भिन्न  
 है तो “उसे रक्षकर उसीमें अनुप्रविष्ट  
 हो गया” “यह अन्य है और मैं  
 अन्य हूँ—इस प्रकार जो कहता ।  
 यह नहीं आता” “एक ही  
 अद्वितीय” “यू वह है” इत्यादि  
 धृष्टियोंसे विरोध होगा । और यदि  
 वह सत्य ही आनन्दमय आत्मको  
 प्राप्त होता है तो उस [ एक ही ]  
 में कर्म और कर्त्तापन दोषोक्त होना  
 असम्भव है, तथा परमात्माको ही  
 संसारित्वकी प्राप्ति अपना उसके  
 परमात्मत्वका अभाव सिद्ध होता है ।

पूर्व०—यदि दोनों ही अस्तित्व-  
 में प्राप्त होनेवाले दोषका परिहार  
 नहीं किया जा सकता तो उसका  
 विचार करना व्यर्थ है और यदि  
 किसी एक पक्षको स्वीकार कर लेनेसे  
 दोषकी प्राप्ति नहीं होती अपन  
 कोई तीसरा निर्दोष पक्ष हो तो उसे  
 ही शास्त्रपर आशय समझना चाहिये ।  
 ऐसी अवस्थामें भी विचार करना  
 व्यर्थ ही होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह  
 उसका निश्चय करनेक लिये है ।

प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तुं

मन्यतरस्मिंस्सृष्टीये वा पक्षेऽदुष्टे

ऽवष्टते व्यर्था चिन्ता स्यात् न तु

सोऽवष्टत इति तदवधारणार्थं

त्वादर्थवत्त्वेवैषा चिन्ता ।

सस्यमर्थवती चिन्ता छात्रा-

र्थावधारणार्थत्वात् । चिन्तयसि

च त्वं न तु निर्णेप्यसि ।

किं न निर्मितव्यमिति वेद  
वचनम् ?

न ।

कथं तर्हि ?

बहुप्रतिपक्षत्वात् । एकस्ववादी

त्वम्, वेदार्थपरत्वात्, बहुषो हि

नानास्ववादिनो वेदभाषास्त्व

स्प्रतिपक्षाः । अतो ममाशङ्कां न

निर्णेप्यसीति ।

एतदेव मे स्वस्त्ययनं यन्मा-

यह ठीक है कि इस प्रकार प्राप्त

होनेवाला दोष निवृत्त नहीं किया

जा सकता तथा उपर्युक्त दोनों

पक्षोंमेंसे किसी एकका अपवाद किसी

तीसरे निर्दोष पक्षका निश्चय हो

जानेपर भी यह विचार व्यर्थ ही

होगा । किन्तु उस पक्षका निश्चय

तो नहीं हुआ है; अतः उसका

निश्चय करनेके छिये होनेके कारण

यह विचार सार्थक ही है ।

पूर्व०—शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय

करनेके छिये होनेसे तो सचमुच

यह विचार सार्थक है, परन्तु वृत्त

केवल विचार ही करता है, निर्णय

तो कुछ करेगा नहीं ।

सिद्धान्ती—निर्णय नहीं करना

चाहिये—ऐसा क्या कोई वेद-शास्त्र है ?

पूर्व०—नहीं ।

सिद्धान्ती—तो फिर निर्णय क्यों

नहीं होगा ?

पूर्व०—क्योंकि तैसा प्रतिपक्ष

बहुत है । वेदार्थपरत्वका होनेके

कारण वृत्तों एकस्ववादी है, किन्तु

तेरे प्रतिपक्षी वेदभाषा मान्यतावादी

बहुत हैं । इसछिये मुझे शक्य है कि वृत्तों मेरी शङ्काका निर्णय नहीं कर सकेंगे ।

सिद्धान्ती—वृत्तों जो मुझे बहुतसे



मेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिप  
क्षमात्थ । अतो जेष्यामि सर्वान्;  
आरभे च चिन्ताम् ।

स एव तु स्वाच्छावस्य वि  
बध्धितत्वात् । तद्विज्ञानेन परमा  
त्ममाधो ह्यत्र विबध्धितो ब्रह्म  
विदामोति परमिति । न ह्यन्य  
स्वान्बभावापचिरुपपद्यते । ननु  
तस्यापि तद्भावापचिरनुपपन्नैव ?  
न; अविद्याकृततादात्म्यापो  
हार्थत्वात् । या हि ब्रह्मविद्यया  
स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते साविद्या-  
कृतस्वाभादिविज्ञेयात्मन आत्म  
स्वेनाप्यारापितस्यानत्मनोऽपो-  
हार्था ।

कथमेवमर्थतावगम्यते ?

अनेकत्वव्यती प्रतिपक्षिष्येसे मुक्त  
एकत्ववादी बतल्यया है—यही बड़े  
मज्जलकी बात है । जग अब मैं  
सबको जीत लूँगा, ले, मैं विचार  
आरम्भ करता हूँ ।

यह संकल्पणकर्ता परमात्मा ही  
है, क्योंकि यहाँ जीवको परमात्म-  
भावकी प्राप्ति बतलवनी लमीछ है ।  
'ब्रह्ममेवा परमात्माको प्राप्त कर लेता  
है' इस वाक्यके अनुसर यहाँ ब्रह्म-  
विज्ञानसे परमात्मभावकी प्राप्ति होती  
है—यही प्रतिपादन करना इष्ट है ।  
किन्ती अन्य पदार्थका अन्य पदार्थ  
भावको प्राप्त होना सम्भव नहीं है ।  
यदि कहो कि उसका स्वयं अपने  
स्वरूपको प्राप्त होना भी बसम्भव  
ही है, तो ऐसी बात नहीं है,  
क्योंकि यह कथन केवल अविद्यासे  
आरोपित अनात्मपदार्थोंका नियेध  
करनेके लिये ही है । [ तात्पर्य यह  
है कि ] ब्रह्मविद्याके द्वारा जो  
अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिपर  
उपदेश किया जाता है वह अविद्या-  
कृत अममयदि कोसरूप विशेषरूप  
का अर्थात् आत्ममयसे आरोपित  
किये हुए अनात्माका नियेध परमेके  
लिये ही है ।

पूर्व०—उक्तकर इस प्रयोगनके  
लिये होना कैसे जाना जाता है !

विद्यामात्रोपदेशात् । विद्या  
याम् इष्टं कार्यमविद्यानिवृत्ति  
स्तथैह विद्यामात्रमात्मप्राप्तौ  
साधनमुपदिश्यते ।

मार्गविज्ञानोपदेशवदिति चेत् ।

तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोप-  
देशोऽहेतुः । फलात् ? देशान्तर  
प्राप्तौ मार्गविज्ञानोपदेशदर्श-  
नात् । न हि ग्राम एव गन्तेति  
चेत् ?

न, वैधर्म्यात् । तत्र हि ग्राम

विषयं विज्ञानं नोपदिश्यते ।

तरप्राप्तिमार्गविषयमवोपदिश्यते

सिद्धान्ती—केवल ज्ञानकर ही  
उपदेश किया जानेके कारण ।  
अज्ञानकी निवृत्ति—यह ज्ञानकर  
प्रत्यक्ष कार्य है, और यहाँ आत्माकी  
प्राप्तिमें यह ज्ञान ही साधन बतलाया  
गया है ।

पूर्व०—यदि यह मार्गविज्ञानके  
उपदेशके समान हो तो ? [ क्या  
इसीकी व्याख्या करते हैं— ] केवल  
ज्ञानकर ही साधनरूपसे उपदेश  
किया जाना उसकी परमात्मरूपतामें  
कारण नहीं हो सकता । ऐसा  
क्यों है ? क्योंकि देशान्तरकी प्राप्तिके  
लिये भी मार्गविज्ञानकर उपदेश होता  
देखा गया है । ऐसी अवस्थामें ग्राम  
ही गमन करनेवाला नहीं हुआ  
करता—ऐसा माने तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं;  
क्योंकि वे दोनों समान धर्मवाले नहीं  
हैं । \* [ तुमने जो उद्यम किया है ]  
उसमें ग्रामस्विकार विज्ञानकर उपदेश  
नहीं दिया जाता, केवल उसकी  
प्राप्तिके लिये सम्बन्धित विज्ञान

• ग्रामके अनेकाले और जगहकी प्राप्ति होनेवालेमें बड़ा अन्तर है । इसके  
लिखा ग्रामके अनेकालेके लिये मार्गके विज्ञानकर उपदेश किया जाता है उसमें  
यह नहीं कहा जाता कि 'यह अज्ञानकर ग्राम है' परन्तु जगहज्ञानकर उपदेश ली तु  
ग्राम है' इत अनेकालेके वाक्यमें ही किया जाता है ।

विज्ञानम् । न तत्रेह ब्रह्मविज्ञान

व्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं

विज्ञानमुपदिश्यते ।

उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्म  
विज्ञान परप्राप्तौ साधनमुप  
दिश्यत इति चेन्न; नित्य  
त्वान्मोक्षस्येत्यादिना प्रत्युक्त  
त्वात् । श्रुतिश्च तत्सृष्ट्वा तदेवा  
नुप्राविशदिति कार्यस्यस्य तदा  
स्मत्त्वं दर्शयति । अमयप्रतिष्ठोप  
पक्षेभ्य । यदि हि विद्यावान्स्वा  
त्मनाऽन्यन्न पश्यति ततोऽभय  
प्रतिष्ठां विन्दत इति स्यान्नयदेताः  
परसान्यस्यामावात् । अन्यस्य  
षानिद्याकृतत्वे विद्ययापस्तुत्व  
दर्शनोपपत्तिनाद्धि द्वितीयस्य

का ही उपदेश किया जाता है ।  
उसके समान इस प्रसङ्गमें ब्रह्म-  
विज्ञानसे भिन्न किसी अन्य साधन  
सम्बन्धी विज्ञानका उपदेश नहीं  
किया जाता ।

यदि कहो कि [ पूर्वकाण्डमें ]  
कहे हुए कर्मकी अपेक्षावाला ब्रह्मज्ञान  
परमात्माकी प्राप्तिमें साधनरूपसे  
उपदेश किया जाता है, तो ऐसी  
बात भी नहीं है, क्योंकि मोक्ष  
मित्य है—इत्यादि हेतुओंसे इसका  
पहले ही निराकरण किया जा चुका  
है । 'उसे रक्कर वह उसीमें अनु-  
प्रविष्ट हो गया' यह श्रुति भी कार्य-  
में स्वतः आत्माका परमात्मत्व प्रदर्शित  
करती है । अमय-प्रतिष्ठाकी उपपत्ति-  
के कारण भी [ उनका अभेद ही  
मानना चाहिये ] । यदि ज्ञानी अपनेसे  
भिन्न किसी औरकी नहीं देखता  
तो वह अमयस्थितिको प्राप्त कर  
लेता है—ऐसा कहा जा सकता  
है; क्योंकि उस अवस्थामें उसके  
हेतुमूढ अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं  
रहती । अन्य पदार्थ [ अर्थात्  
ईत ] के अविद्याजन होमैत्र  
ही विषाये द्वारा उसके अदृश्यत्व-  
दर्शनकी उपपत्ति हो सकती  
है । [ भ्रान्तिवश प्रतीत होनेकाले ]

चन्द्रस्य सत्त्वं यदतीमिरिकेच

चक्षुष्मता न गृह्यते ।

नैवं न गृह्यत इति चेत् ?

न, सुषुप्तसमाहितयोर  
ग्रहणात् ।

सुषुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति  
चेत् ?

न, सर्वाग्रहणात् । चाग्रस्त्वप्न  
योरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति  
चेन्न; अविद्याकृतत्वात्त्राग्र  
त्स्वप्नयोः; यदन्यग्रहणं चाग्रत्स्वप्न  
योस्तदविद्याकृतमविद्यामाघेऽमा  
णात् ।

सुषुप्तेऽग्रहणमप्यविद्याकृत  
मिति चेत् ?

द्वितीय चन्द्रमाफी वास्तविकता  
यही है कि वह तिमिररोगरहित  
नेत्रोंवाले पुरुषद्वारा ग्रहण नहीं  
किया जाता ।

पूर्व०—परन्तु द्वैतक्य ग्रहण म  
होता हो—ऐसी बात तो है नहीं ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत बड़ो;  
क्योंकि सोये हुए और समाहित  
पुरुषको उसका ग्रहण नहीं होता ।

पूर्व०—किन्तु सुषुप्तिमें जो द्वैतक्य  
अग्रहण है वह तो नियन्त्रणमें  
आसक्तचित्त पुरुषके अग्रहणके  
समान है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस  
समय तो सभी पदार्थोंका अग्रहण  
है [ फिर वह अन्यासक्तचित्त कैसे  
कहा जा सकता है ? ] यदि कहो  
कि चाग्रत् और सप्नकालमें अन्य  
पदार्थोंका ग्रहण होनेसे उनका सत्त्वा  
है ही, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं,  
क्योंकि चाग्रत् और सप्न अविद्या  
कृत हैं । चाग्रत् और सप्नमें जो अन्य  
पदार्थोंका ग्रहण है वह अविद्याके  
करण है, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति  
होनेपर उसका अन्वय ही जाता है ।

पूर्व०—सुषुप्तिमें जो अग्रहण है  
वह भी तो अविद्याके ही कारण है ।

न, स्वाभाविकत्वात् । द्रव्य  
 वस्तुनस्वभाविक- स्व हि तत्त्वमविक्रि  
 विक्रियन्तवो- या परानपेक्षत्वात् ।  
 विवक्षयन् विक्रिया न तत्त्वं  
 परापेक्षत्वात् । न हि कारकापेक्षं  
 वस्तुनस्तत्त्वम् । सतो विज्ञेयः  
 कारकापेक्ष, विशेष्य विक्रिया ।  
 साध्यत्वप्रयोश्च ग्रहणं विज्ञेयः ।  
 यदि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं  
 तत्त्वस्य तत्त्वम्, यदन्यापेक्षं न  
 तत्त्वम्, अन्याभावेऽभावात् ।  
 तस्मात्स्वाभाविकत्वाच्चाप्रस्त्वम  
 वन्न सुपुष्टे विज्ञेय ।  
 यथा पुनरीश्वराऽन्य आत्मनः  
 शरीरे कार्यं चान्यत्तेषां  
 मन्त्रेणैव मयानिष्टिर्मयस्या  
 न्यनिमित्तत्वात् । सतश्चान्यस्यात्म-  
 हानानुपपत्तिः । न चासत् आ-

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह तो  
 स्वाभाविक है । द्रव्यका तार्किक  
 स्वरूप तो विकार न होना ही है।  
 क्योंकि उसे दूसरेकी अपेक्षा नहीं  
 होती । दूसरेकी अपेक्षात्प्राप्त होनेके  
 कारण विकार तत्त्व नहीं है । जो  
 कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंकी  
 अपेक्षात्प्राप्त होता है वह वस्तुका  
 तत्त्व नहीं होता । विद्यमान वस्तुका  
 विशेष रूप कारकोंकी अपेक्षात्प्राप्त  
 होता है, और विशेष ही विकार  
 होता है । जाग्रत् और सपनका जो  
 ग्रहण है वह भी विशेष ही है ।  
 जिसका जो रूप व्यक्तकी अपेक्षासे  
 रक्षित होता है वही उसका तत्त्व  
 होता है और जो व्यक्तकी अपेक्षा  
 प्राप्य होता है वह तत्त्व नहीं होता;  
 क्योंकि उस व्यक्तका अभाव होनेपर  
 उसका भी अभाव हो जाता है ।  
 अतः [सुपुष्टावस्था] स्वाभाविक होनेके  
 कारण उस समय जाग्रत् और सप-  
 नक समान विशेषकी सत्त्व नहीं है ।

किन्तु जिनके मतमें ईश्वर आत्म्या-  
 से भिन्न है और उसका कार्यरूप  
 यह जगत् भी भिन्न है उनका भक्तकी  
 निवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि  
 मय दूसरेके ही कारण हुआ करता  
 है । अन्य पदार्थ यदि सत् होना  
 तब तो उसका स्वरूपका अभाव  
 नहीं हो सकता और यदि असत्

रमलामः । सापेक्षस्यान्यस्य भय  
हेतुत्वमिति चेन्न, तस्यापि तुल्य  
त्वात् । यदधर्माद्यनुसहायीभूतं  
निरत्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्षा-  
न्यङ्गकारणं स्यात्तस्यापि तथा-  
भूतस्यारमहानामावाङ्ग्यानिवृत्तिः  
आत्महाने वा सदसत्तोरितरेत  
राप्यौ सर्वश्रानाश्वास एव ।

एकत्वपक्षे पुन सनिमित्तस्य

संसारस्य अविद्या  
कल्पितत्वाददोषः ।

सैमिरिकष्टस्य हि द्वितीयपञ्च

स्य नात्मलामो नाशो वास्ति ।

विद्याविद्ययोस्तद्वर्मत्वमिति चेन्न

प्रत्यक्षत्वात् । विवेकाविवेकी

होग तो उसके स्वरूपकी सिद्धि  
ही नहीं हो सकती । यदि कहो  
कि दूसरा ( ईश्वर ) वा [ हमारे  
धर्माधर्म आदिकी ] अपेक्षासे ही  
मयका कारण है, तो ऐसा कहना  
भी ठीक नहीं क्योंकि वह [ सापेक्ष  
ईश्वर ] भी वैसा ही है । जो कोई  
[ ईश्वरादि ] दूसरा पदार्थ मित्य वा  
अनित्य अधर्मादिरूप सहायक निमित्त-  
की अपेक्षासे मयका कारण होता  
है, यथार्थ होनेके कारण उससे  
स्वरूपका भी अभाव न होनेसे  
उसके मयकी सिद्धि नहीं हो सकती,  
और यदि उसके स्वरूपका अभाव  
माना जाय तो सत् और असत्को  
इतरेतरत्व [ अर्थात् सत्को असत्  
और असत्को सत् ] की प्राप्ति  
होनेसे कहीं विश्वास ही नहीं किया  
जा सकता ।

परन्तु एकत्व-पक्ष स्वीकार करने-  
पर तो सारा संसार अन्तमें कारणके  
सहित अविद्याकल्पित होनेके कारण  
कोई दोष ही नहीं आता । तिमिर  
रोगक कारण देखे गये द्वितीय  
पञ्चमके स्वरूपकी न तो प्राप्ति ही  
होती है और न नाश ही । यदि  
कहो कि ज्ञान और अज्ञान वा  
आत्माके ही धर्म हैं [ इच्छिये एकक  
कारण अन्तमाका विकार होता होगा ]  
तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि  
वे तो प्राप्यक्ष ( आत्माके रूप ) हैं ।

रूपादिवत्प्रत्यक्षाद्युपलभ्येतेऽन्तः-  
करणस्यै । न हि रूपस्य  
प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम् ।  
अविद्या च स्वानुभवेन रूप्यते  
मूढोऽहमविविक्तं मम विद्यान  
मिति ।

तथा विद्याविधेकोऽनुभूयते ।  
उपदिशन्ति चायेभ्य आत्मनो  
विद्याम् । तथा चान्येष्वधारयन्ति ।  
तस्मान्नामरूपपक्षस्यैव विद्याविधे  
नामरूपे च नात्मधर्मौ । “नाम  
रूपयोर्निर्बाहिता ते यदन्तरा  
तद्व्यञ्ज” ( छा० उ० ८ । १४ ।  
१ ) इति श्रुत्यन्तरात् । ते च  
पुनर्नामरूपे सवितर्यद्वाराग्रे इव  
कल्पिते न परमार्थतो विद्यमाने ।  
अमेदे “एतमानन्दमयमा  
त्मानमुपसंक्रामति” ( तै० उ०  
२ । ८ । ५ ) इति कर्मकर्तृत्वा  
नुपपत्तिरिति चेत् ?

रूप आदि विषयोंके समान वस्तु  
करणमें स्थित विवेक और अविवेक  
प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं । प्रत्यक्ष  
उपलब्ध होनेवाला रूप इच्छाका धर्म  
नहीं हो सकता । ‘मैं मूढ़ हूँ, मेरी  
बुद्धि मज्जिन है’ इस प्रकार अविद्या  
भी अपने अनुभवके द्वारा निरूपण  
की जाती है ।

इसी प्रकार विद्याका पार्ष्ण्य भी  
अनुभव किया जाता है । बुद्धिमान्  
छेग दूसरोंको अपने ज्ञानका उपदेश  
किया करते हैं । तथा दूसरे छेग  
भी उत्तम निश्चय करते हैं । कत  
विद्या और अविद्या नाम-रूप पक्षके  
ही हैं, तथा नाम और रूप आत्मके  
धर्म नहीं हैं, जैसे कि “जो नाम  
और रूपका निर्बाह करनेवाला है  
तथा जिसके भीतर वे ( नाम  
और रूप ) रहते हैं, वह अस है”  
इस कथ्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।  
वे नाम-रूप भी सूर्यमें दिन और  
रात्रिके समान कल्पित ही हैं,  
बलुत विद्यमान नहीं हैं ।

पूर्व०—किन्तु [ईश्वर और जीवका]  
अमेद माननेपर तो “यह इस  
आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है”  
इस श्रुतिमें जो [पुरुषका] कर्तृत्व और  
[आनन्दमय आत्माका] कर्मत्व बताया  
है वह उपपन्न नहीं होता !

न; विज्ञानमात्रत्वात्संक्रमण  
 स्व । न स्वस्वकादि  
 उत्पन्नत्वात्संक्रमणमिहोप  
 दिश्यते, किं तर्हि ? विज्ञानमात्रं  
 संक्रमणमनुतेरर्थः ।

ननु मुख्यमेव संक्रमण भूयत  
 उपसंक्रामतीति चेत् ?

न; अक्षमयेऽवर्धनात् । न  
 अक्षमयमुपसंक्रामतो बाह्यादसा-  
 न्नोकाजस्रकायत्संक्रमण इत्यन्ते  
 अन्यथा वा ।

मनोमयस्य बहिर्निर्गतस्य  
 विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्या  
 वृत्त्यारमसंक्रमणमिति चेत् ?

न; स्वात्मनि क्रियाविरोधा  
 दन्योऽक्षमयमन्यमुपसंक्रामतीति  
 प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि पुरुष-  
 का संक्रमण तो केवल विज्ञानमात्र  
 है । यहाँ बौद्ध आदिके संक्रमणके  
 समान पुरुषके संक्रमणका उपदेश  
 नहीं किया जाता । तो कैसा ?  
 इस संक्रमण-मुक्तिका वर्ष तो केवल  
 विज्ञानमात्र है ।\*

पूर्व०—‘उपसंक्रामति’ इस पदसे  
 यहाँ मुख्य संक्रमण ( समीप जाना )  
 ही अभिप्रेत हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि अक्षमयमें  
 मुख्य संक्रमण देखा नहीं जाता—  
 अक्षमयको उपसंक्रमण करनेवालेका  
 भौक्तक समान इस बाह्य अणुसे  
 अपना किसी और प्रकारसे संक्रमण  
 नहीं देखा जाता ।

पूर्व०—बाहर [ निकलकर कियोंमें ]  
 गये हुए मनोमय अपना विज्ञानमय  
 कोस्रोका तो बहोसि पुन व्यैत्येपर  
 अपनी ओर होना संक्रमण हो ही  
 सकता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे  
 अपनेमें ही अपनी क्रिया होगा—  
 यह विरोध उपस्थित होता है ।  
 अक्षमयसे भिन्न पुरुष अपनेसे भिन्न  
 अक्षमयको प्राप्त होता है—इस प्रकार

\* अर्थात् यहाँ ‘संक्रमण’ शब्दका अर्थ ‘जानना’ या ‘पहुँचना’ नहीं बल्कि  
 जानना है ।



स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति वि  
 रोधः स्यात् । तथा नानन्दमय  
 स्वात्मसंक्रमणमुपपद्यते । तस्मात्  
 प्राप्तिः संक्रमणं नाप्यभमयादी  
 नामन्यतमकर्तृकम् । पारिक्षेप्यात्  
 भमयाधानन्दमयान्तरमभ्यति  
 रिक्तकर्तृकं ज्ञानमात्रं च संक्रमण  
 मुपपद्यते ।

ज्ञानमात्रत्वे चानन्दमयान्तः  
 स्वसौव सर्वान्तरस्याकाशाद्यभ्र  
 मयान्तं कार्यं सुप्तनुप्रविष्टस्य  
 हृदयगुहामिसंस्पर्शादभमयादि  
 ध्वनात्मस्वात्मविभ्रमः संक्रमण  
 नात्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विन  
 स्यति । तदेतसिभविद्याविभ्रम  
 नाशे सङ्क्रमणसुप्त् उपचर्यते न  
 ह्यन्यथा सर्वगतस्वात्मनः संक्र  
 मणमुपपद्यते ।

प्रकरणका आरम्भ करके जब 'अन्ते-  
 मय' अपना विज्ञानमय अपनेको  
 ही प्राप्त होता है' ऐसा कहनेमें  
 उससे विरोध व्यता है । इसी प्रकार  
 आनन्दमयका भी अपनेको प्राप्त  
 होना सम्भव नहीं है; अतः प्राक्षिक  
 नाम संक्रमण नहीं है और न वह  
 अभमयादिमेंसे किसीके द्वारा किया  
 जाता है । फलतः आत्मासे भिन्न  
 अभमयसे लेकर आनन्दमय को श-  
 पर्यन्त जिसका कर्ता है वह ज्ञानमात्र  
 ही संक्रमण होना सम्भव है ।

इस प्रकार 'संक्रमण' शब्दका  
 कार्य ज्ञानमात्र होनेपर ही आनन्दमय  
 को उसके भीतर स्थित सर्वान्तर तथा  
 आकाशासे लेकर अभमयका शपर्यन्त  
 कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट  
 हुए आत्माका जो हृदयगुहाके  
 सम्स्पर्शसे अभमय यदि अनाश्वार्जो-  
 में आरम्भका अभ्र है वह संक्रमण-  
 सहाय विवेक ज्ञानकी उत्पत्तिसे नष्ट  
 हो जाता है । अतः इस अत्रिधारूप  
 भ्रमके नाशमें ही संक्रमण शब्दका  
 उपचार ( गौणरूप ) से प्रयोग  
 किया गया है । इसके सिवा किसी और  
 प्रकार सर्वगत आत्माका संक्रमण  
 होना सम्भव नहीं है ।

वस्त्वन्तरामावाह । न च  
 स्वात्मन एव संक्रमणम् । न हि  
 ब्रह्मकात्मानमेव संक्रामति ।  
 तस्मात्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मसि  
 यथोक्तलक्षणान्तरप्रतिपर्ययमेव  
 बहुमननसर्गप्रवेशरसत्तामामय  
 संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि  
 सर्वव्यवहारविषये; न तु परमार्थता  
 निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिदपि  
 विकल्प उपपद्यते ।

तमेतं निर्विकल्पमात्मानमेव  
 क्रमेणोपसंक्रम्य विदित्वा न  
 बिभेति ह्यतश्चानामयं प्रतिष्ठां  
 विन्दत इत्येतस्मिन्नर्थेऽप्येव श्च  
 को भवति । सर्वसैवात्म्य प्रक  
 रणस्यानन्दबन्धपर्ययस्य संक्षेपतः  
 प्रकृत्यनायैव मन्त्रो भवति ॥५॥

आत्मसे मित्त अन्य वस्तुका  
 अभाव होनेसे भी [ उसका किस्तीके  
 प्रति जानारूप संक्रमण नहीं हो  
 सकता ] । अपना अपनेको ही  
 प्राप्त होना तो सम्भव नहीं है ।  
 जोके अपने प्रति ही संक्रमण (गमन)  
 नहीं करती । अतः 'ब्रह्म सत्यज्ञरूप,  
 ज्ञानक्षरूप और अनन्त है' इस  
 पूर्वोक्त लक्षणवाले आत्माके ज्ञानके  
 लिये ही सम्पूर्ण व्यवहारके आधार  
 मूल ब्रह्ममें अनेक होना, सुधिमें  
 अनुपवेश करना, आनन्दकी प्राप्ति,  
 अमय और संक्रमणादिकी कल्पना  
 की गयी है; परमार्थत तो निर्विकल्प  
 ब्रह्ममें कोई विकल्प होना सम्भव  
 है नहीं ।

इस प्रकार कर्मसे उस इस  
 निर्विकल्प आत्माके प्रति उपसंक्रमण-  
 कर अर्थात् उसे जानकर साधक  
 किस्तीसे मयभीता नहीं होता । वह  
 अमयस्थिति प्राप्त कर लेता है । इसी  
 अर्थमें यह श्लोक भी है । इस  
 सम्पूर्ण प्रकृत्यके अर्थात् आनन्द  
 बन्धकी अर्थका संक्षेपसे प्रकृतित  
 करणके लिये ही यह मन्त्र है ॥५॥

## नवम अनुवाक

ब्रह्मानन्दस्य अनुभव करनेवाले विद्वान्की ब्रह्ममप्राप्ति

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।  
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति । एतद्ब्रह्म  
वाच न तपति । किमहंसाद्यु नाकरवम् । किमहं पाप-  
मकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते ।  
उमे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युप-  
निषत् ॥ १ ॥

अहोसे मनके सुखित वाणी उसे प्राप्त न करके झैट जाती है उस  
ब्रह्मक आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता । उस  
विद्वान्को, मैंने छुम क्यों नहीं किया, पापकर्म क्यों कर बाध—इस  
प्रकारकी चिन्ता सन्तप्त नहीं करती । उन्हें [ ये पाप और पुण्य ही  
तापके कारण हैं—] इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् अपने आत्मको  
प्रसन्न अवस्था सख्त करता है उसे ये दोनों आत्मस्वरूप ही दिखायी  
दते हैं । [ यह कौन है ? ] जो इस प्रकार [ पूर्वोक्त वद्वैत आनन्दस्वरूप  
ब्रह्मको ] जानता है ऐसी यह उपनिषद् ( रहस्यविद्या ) है ॥ १ ॥

यतो यसाभिर्विकल्पाद्यथाक्त  
सद्यवादिद्ब्रह्मानन्दादात्मना वाचो  
ऽभिधानानि द्रव्यादिसविकल्प

विशुद्ध पूर्वोक्त कल्याणेशले  
निर्विकल्प आनन्दस्वरूप ब्रह्मको  
पाससे द्रव्यादि सविकल्प वस्तुओंसे  
प्रकृतित करनवाला वाक्य—  
अभिधान, जो वस्तुत्वमें [ ब्रह्मका

वस्तुविषयाणि वस्तुसामान्या  
 निर्विकल्पेऽद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयो-  
 क्तमिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमाना  
 न्यप्राप्त्वाप्रकाशयैव निवर्तन्ते  
 त्सामर्थ्यादीयन्ते—

मन इति प्रत्यया विज्ञानम् ।

तत्र यत्रामिषान प्रवृत्तमतीन्द्रि-  
 येऽप्यर्थे तदर्थे च प्रवर्तते प्रका-  
 शनाय । यत्र च विज्ञानं तत्र  
 वाचः प्रवृत्ति । तस्मात्सहैव  
 वाच्यनसमोरमिषानप्रत्यययोः  
 प्रवृत्तिः सर्वत्र ।

तस्माद्ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा  
 प्रयोक्तृमि प्रयुज्यमाना अपि  
 वाचो यस्माद्प्रत्ययविषयादन  
 मिषेयाद्दृश्यादि विक्षेपणात्सहैव  
 मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशन  
 समर्थेन निवर्तन्ते तं ब्रह्मण आ-  
 नन्द भोत्रियस्याद्भिनस्याकामह

अन्य सविकल्प वस्तुबोके ] समान  
 समझनेके कारण वक्त्रओद्वारा, ब्रह्म-  
 के निर्विकल्प और अद्वैत होमेपर  
 मी, उसका निर्देश करनेके लिये  
 प्रयोग किया जाता है, उसे न  
 पाकर अर्थात् उसे प्रकाशित किये  
 बिना ही छूट जाता है—अपनी  
 सामर्थ्यसे श्रुत हो जाता है—

[ 'मनसा सह' (मनके सहित)  
 इस पदसमूहमें ] 'मन' शब्द प्रत्यय  
 अर्थात् विज्ञानका वाचक है । वह,  
 यहाँ-कहाँ अतीन्द्रिय पदार्थोंमें मी  
 शब्दकी प्रवृत्ति होती है वहाँ उसे  
 प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ  
 करता है । यहाँ-कहाँ मी विज्ञान  
 है वहाँ वाणीकी मी प्रवृत्ति है ।  
 अतः अमिषान और प्रत्ययरूप  
 वाणी और मनकी सर्वत्र साथ-साथ  
 ही प्रवृत्ति होती है ।

इसलिये वक्त्रओद्वारा सर्वथा  
 ब्रह्मका प्रकाश करनेके लिये ही  
 प्रयोग की हुई वाणी, जिस प्रतीतिके  
 अविषयभूत, अकल्पनीय, अदृश्य और  
 निर्विश्व ब्रह्मके पाससे मन अर्थात्  
 सबको प्रकाशित करनेमें समर्थ  
 विज्ञानक सहित छूट जाती है उस  
 ब्रह्मके आनन्दको—धोत्रिय निश्चाय

## नवम अनुवाक

ब्रह्मानन्दस्य अनुभव करमेवाले विद्वान्की जगज्जगति

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।  
 आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति । एतश्च  
 वाव न तपति । किमहश्साधु नाकरवम् । किमह पाप-  
 मकरवमिति । स य एव विद्वानेते आत्मानश्च स्पृणुते ।  
 उभे ह्येवैव एते आत्मानश्च स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युप  
 निषत् ॥ १ ॥

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे प्राप्त न करके छीट जाती है उस  
 ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता । उस  
 विद्वान्को, मैंने छुम क्यों नहीं किया, पापकर्म क्यों कर बाध्य—इस  
 प्रकारकी चिन्ता सन्तप्त नहीं करती । उन्हें [ ये पाप और पुण्य ही  
 तापक कारण हैं—] इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् अपने आत्माको  
 प्रसन्न थपवा सक्क करता है उसे ये दोनों धर्मस्वरूप ही दिखयी  
 देते हैं । [ यह कौन है ? ] जो इस प्रकार [ पूर्वोक्त वद्वैत आनन्दस्वरूप  
 ब्रह्मको ] जानता है ऐसी यह उपनिषद् ( रहस्यविद्या ) है ॥ १ ॥

यथा यथाभिर्विकल्पाद्यथाक्त  
 लक्षणाद्ब्रह्मानन्दादारमना वाचा  
 अभिधानानि द्रव्यादिसविकल्प

मिस पूर्वोक्त लक्षणाद्यथा  
 निर्विकल्प आनन्दस्वरूप आत्माके  
 पाससे ब्रह्मणि सविकल्प वस्तुओंको  
 प्रकटित करनेवाला वाक्य—  
 अभिधान, या वस्तुत्वमे [ ब्रह्मको

नन्वस्ति भयनिमित्तं साध्व

करणं पापक्रिया च ?

नैवम्; कृपमित्युच्यते—एतं

यथोक्तमेवविदम्, इ चावेत्येष  
धारणार्था, न तपति नाद्वेष  
यति न संतापयति । कर्म पुनः  
साध्वकरणं पापक्रिया च न  
तपतीत्युच्यते । किं कस्मात्साधु  
क्षामन कर्म नाकरणं न कृत्वा-  
नसीति पश्चात्सतापो मभत्या  
सन्ने मरणकाल । तथा किं  
कस्मात्पाप प्रतिषिद्धं कमाकरणं  
कृत्वा नसीति च नरकपतनादि  
दुःस्वभयात्तापा भवति । ते एते  
साध्वकरणपापक्रिये एवमेव न  
तपता यथाविद्वांस तपतः ।

कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत  
इत्युच्यते—स य ण्विद्वानेव  
साध्वसाधुनी तापहवृत्त्याम्मान  
स्पृशुते प्रीणयति बलयति वा

शब्द—किन्तु शुभ कर्मका न  
करना और पापकर्म करना यह तो  
भयका कारण है ही !

समाधान—एसी बात नहीं है ।  
किस प्रकार नहीं है सा वतअया  
जाता है—इस पूर्वोक्तको अर्थात् इस  
प्रकार माननेअन्तको वह ठस—ठसिप्र  
अथात् सन्तप्त नहीं करता । मूर्खमें  
'ह' और 'ध' ये निश्चयार्थक  
निपात हैं । वह पुण्यका न करमा  
और पापक्रिया उसे किस प्रकार  
ताप नहीं देने । इसपर कहते हैं—  
मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया  
ऐसा पश्चात्ताप मरणकाल समीप  
आनपर हुआ करता है तथा मैंने  
पाप यानी प्रतिषिद्ध कर्म क्यों  
किया ऐसा दुःख मरणकाल आदि  
क भयमे जाता है । ये पुण्यका न  
करना और पापका करना इस  
विश्वन्को इस प्रकार सन्तप्त नहीं  
करते जैसे कि वे अविश्वन्को किया  
करने हैं ।

वे विश्वन्का क्यों सन्तप्त नहीं  
करते ! सा वतअया जाता है—य  
पाप-पुण्य ही तापक हेतु हैं—इस  
प्रकार जागनशाप जो विश्वन्  
आत्माको प्रसन्न अथवा सुख करता

परमात्मभावेनोमे पश्यतीत्यर्थः ।

उमे पुण्यपापे हि यस्मादेवमेव

विद्वानेते आत्मानमात्मरूपेणैव

पुण्यपापे स्वेन विज्ञेयरूपेण

शून्ये कृत्वात्मान स्पृशुत एव ।

को य एवं वेद यथोक्तमद्वैत

मानन्द मद्य वेद तस्मात्परमात्मेन

दृष्टे पुण्यपाप निर्बीर्यं अथापके

अमान्तरारम्भके न भवतः ।

इतीयमेव यथाकाम्यां वल्लर्यां

ब्रह्मविद्यापनिषत्सुवाग्या विद्या

भ्यः परमरहस्यं दद्वितमिन्यर्थः ।

परं श्रेयाऽस्यां निषण्णामिति ॥१॥

है अर्थात् इन दोनोंको परमात्मभाव-  
से देखना है [ उसे ये पाप-पुण्य

सन्तत नहीं करते ] । क्योंकि ये

पाप-पुण्य दोनों ऐसे हैं [ अर्थात्

कारणस्वरूप हैं ] अतः यह विद्वान्

इस पाप-पुण्यरूप आत्माको आत्म-

भावासे ही अपने विशेषरूपसे

शून्य कर आत्माको ही तृप्त करता

है । यह विद्वान् कीन है ? जो इस

प्रकार जानता है अर्थात् पूर्णतः

अद्वैत एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्मको

जानता है । उसके आत्मभावसे

देन हुए पुण्य-पाप निर्बीर्य और

ताप पहुँचानवाले न होनेसे

अमान्तरके आरम्भक नहीं होते ।

इस प्रकार इस बल्लीमें, जैसी कि

ऊपर कही गयी है, यह ब्रह्मविद्या

रूप उपनिषद् है । अर्थात् इसमें

अप्य सुब विद्याओंकी अपेक्षा परम

रहस्य प्रदर्शित किय गयी है । इस

विद्यामें ही परम श्रेय निहित है ॥१॥

इति ब्रह्मविद्यापनिषत्सुवाग्या विद्या ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवतसंहितायां ब्रह्मविद्यायां श्रीशुकस्य उवाच

श्रीमद्भागवतसंहितायां ब्रह्मविद्यायां श्रीशुकस्य उवाच

# शुश्रूषुषुः

## प्रथम अनुवाक

भृगुश्च अपने पिता बरुणके पास आकर ब्रह्मविद्याबिषयक  
प्रश्न करता तथा बरुणका ज्ञानोपदेश

सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माकाशा-  
दिकार्यमक्षमयान्तं  
सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं  
बिभ्रेपवदिवोपलभ्यमान यसा-  
चसात्सर्वकार्यबिरुद्युममदद्यादि  
धर्मकमेवानन्दं तदेवाहमिति  
पिजानीयादनुप्रवेष्टव्यं तदर्धत्वा  
चस्यैवं पिजानतः शुभाशुभे  
कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न  
भवत इत्यवमानन्दधत्स्व्यां विष  
दिवोऽर्षः परिसमाप्ता च ब्रह्म-  
विद्या । अत परं ब्रह्मविद्या-  
साधनं तथा ब्रह्मध्यामन्नादिविष  
याणि वोपासनान्यनुष्कानीत्यत

क्योंकि सत्य, ज्ञान और अनन्त  
ब्रह्म ही वाक्यरूपसे केवल अनन्त-  
पर्यन्त कार्यकारीके रूपमें उसमें  
अनुप्रविष्ट हो सविशेष-सा उपलब्ध  
हो रहा है इसलिये वह सम्पूर्ण  
कर्मवर्गसे विच्छेदन ब्रह्म्यादि धर्म-  
काय आनन्द ही है; और नहीं मैं  
हूँ—ऐसा जानना चाहिये । क्योंकि  
उसके अनुप्रवेशका यही उद्देश्य  
है । इस प्रकार ज्ञानकेबाले उस  
साधकके शुभाशुभ कर्म जन्मान्तरका  
कार्य करनेवाले नहीं होते ।  
आनन्दवर्त्तमाने यही नियम ब्रह्मना  
वधीय या । अब ब्रह्मविद्या तो  
समाप्त है चुकी । क्योंकि आगे  
ब्रह्मविद्याके साधन तथा दिक्करण  
करना है तथा शिवका पहले  
निरूपण नहीं किया गया है तथा  
ब्रह्मविद्याके उद्देश्यको भी  
वर्णन किया है; इसलिये इस



इदमारभ्यत—

। प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

सृगुर्वै वारुणि वरुणं पितरमुपससार अर्धीहि  
 भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः  
 श्रोत्र मनो वाचमिति । तद्दृष्ट्वाच । यतो वा इमानि  
 भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य  
 भिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपो-  
 ज्ञाप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

वरुणका सुप्रसिद्ध पुत्र सृगु अपने पिता वरुणके पास गया [ और  
 बोला—] 'भगवन् । मुझे ब्रह्मका बोध कराइये ।' उससे वरुणने यह  
 कहा—'अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाक् [ ये ब्रह्मकी तपस्विके  
 द्वारा हैं ] ।' फिर उससे कहा—'जिसमें निश्चय ही ये सब मूल अणु  
 होते हैं, अणु होनेपर जिसके आग्रसे ये जीवित रहते हैं और अणुमें  
 बिनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं । उसे विशेषरूपसे जाननेकी  
 इच्छा कर; वही ब्रह्म है ।' तब उस ( सृगु ) ने तप किया और उसमें  
 तप करके—॥ १ ॥

|   |   |
|---|---|
| <p>आख्यायिका विधास्तुतवे,<br/>         प्रियाय पुत्राय पित्राक्तेति—<br/>         सृगुर्वै वारुणिः । वैश्वदेवः प्रसि<br/>         द्धानुस्मरणको भृगुरित्येवनामा<br/>         प्रसिद्धोऽनुस्मर्यते । वारुणिर्वरु-<br/>         णस्यापत्यं वारुणिवरुण पितरं</p> | <p>पिताने अपने प्रिय पुत्रको इस<br/>         ( विधा ) का उपदेश किया या—<br/>         इस दृष्टिसे यह आख्यायिका विधानकी<br/>         स्तुतिके लिये है । 'सृगुर्वै वारुणि'<br/>         इसमें 'वै' शब्द प्रसिद्धका स्मरण<br/>         करानेवाला है । इससे 'सृगु' इस<br/>         नामसे प्रसिद्ध ऋषिको अनुस्मरण<br/>         करना आता है जो वारुणि अर्थात्<br/>         वरुणका पुत्र था । यह ब्रह्मको</p> |
|---|---|

प्रद विविधामुखससारोपगत  
वानु, अधीहि मगना प्रदोस्य  
नेन मन्त्रेण । अधीहि अध्यापय  
कथय । स च पिता विधिवदुप  
समास तस्मै पुत्रायैतद्वचन  
प्रोवाच । अन्न प्राण चतुः भात्र  
मनो वाचमिति ।

अन्नं शरीर तदभ्यन्तरं च  
रूपेणैव प्राणमहारमुपल-  
ब्धस्यैवैवमि विधिसाधनानि चतु  
भोत्रं मना वाचमित्येतानि प्रदा  
पलम्भो द्वाराभ्युक्तवान् । उक्त्वा  
च द्वारभूतान्येतान्यन्नादीनि त  
मृगु दावाच प्रदणो लक्षणम् ।  
किं तत् ?

यथा यस्माद्वा इमानि भद्रा  
दीनि प्रम्यपपन्नानि  
भूतानि जायन्ते ।  
येन जानानि जीरन्ति प्राणा  
न्धारयन्ति पर्यन्त । विनायकाले

जाननकी इच्छावाला होकर अपने  
पिता वरुणके पास गया । अर्थात्  
'हे मातृन् ! आप मुझे ब्रह्मका  
उपदेश कीजिये' इस मन्त्रक द्वारा  
[ उसने गुह्यसदन किया ] ।  
'अधीहि' शब्दका अर्थ अध्यापन  
( उपदेश ) कीजिये-कहिये ऐसा  
समझना चाहिये । उस स्थाने  
अन्न पास विधिपूर्वक जाये हुए  
उस पुत्रसे यह वाक्य कहा—'अन्नं  
प्राणं चतुः भोत्रं मन वाचम् ।'

'अन्न अर्थात् शरीर उसका भीतर  
अन्न मक्षण करनेवाला प्राण,  
तदभ्यन्तर विपर्योक्ती उपलब्धिक  
साधनमूल चतुः धात्र मन और  
वाच् ये शब्दों उपलब्धिमें द्वाररूप  
हैं—वेसा उसने कहा । इस  
प्रकार इन द्वारमूल अन्तर्गत  
प्राणका उगत उम मृगुको ब्रह्मका  
मध्यम बतगाया । यह क्या है ?  
[ सा बताने है—]

विनायकाले सेना ध्वस्त  
ये मभूत प्राणी उन्नत होत है,  
विनायक आगमि से बन्ध मन्त्र  
अनन्त जीवित रहत-प्राण धारण  
करते अथवा कृत्रिम प्रम हाने है  
तथा विनायक टाकिया हानकर

च यत्प्रयन्ति यदब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अमिसंविद्यन्ति तादात्म्यमेव प्रतिपद्यन्ते । तस्यचित्स्थिति लक्ष्यश्लेषु यदात्मतां न जहति भूतानि तदेतद्ब्रह्मणो लक्ष्यम् । तद्ब्रह्म विविधासस्व विशेषेषु ज्ञातुमिच्छस्व । यदेवलक्षणं ब्रह्म तदन्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वैत्यर्थः । भृगुस्मन्तरं च—“प्राणस्य प्राणमुत चक्षुपश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नखान्नं मनसो ये मनो विदुस्ते निषिक्युर्ब्रह्म पुराणमन्यम्” ( सू० उ० ४ । ४ । १८ ) इति ब्रह्मोपलम्भौ द्वाराप्येतानीति दर्शयति ।

स भृगुर्ब्रह्मोपलम्भिद्वाराणि

ब्रह्मोपलम्भे ब्रह्मलक्षणं च भूत्वा  
चोपेयः पितृस्तपो ब्रह्मोप

लम्भिसाधनत्वेनासप्यत तप्त  
वान् । इतः पुनरनुपदिष्टस्यैव  
तपसः साधनत्वप्रतिपत्तिर्भुगोः ?

जिसके प्रति प्रमाण करनेवाले अर्थात् जिस ब्रह्मके प्रति गमन करनेवाले वे जित् उसमें प्रवेश करते—उसके तादात्म्यमात्रको प्राप्त हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि तत्पत्ति, स्थिति और लक्ष्यकरणमें प्राणी जिसकी तद्गुणाकार त्याग नहीं करते यही उस ब्रह्मका लक्षण है । वृ उस ब्रह्मको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर, अर्थात् जो ऐसे लक्षणों-वाला ब्रह्म है, उसे अन्नादिके द्वारा प्राप्त कर “ब्रह्म प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका अन्न और मनका मन है—ऐसा जो जानते हैं वे उस पुरातन और श्रेष्ठ ब्रह्मको साक्षात् जान सकते हैं” ऐसी एक दूसरी भृति भी इस बातको प्रदर्शित करती है कि ये प्राणादि ब्रह्मकी उपलम्भिमें द्वारस्वरूप हैं ।

उस भृगुने अपने रितासे ब्रह्मकी उपलम्भिके द्वारा और ब्रह्मका लक्षण सुनकर ब्रह्मसाक्षात्कारके साधनरूपसे तप किया । [ यहाँ प्रश्न होता है कि ] जिसका उपदेश ही नहीं दिया गया था उस तपके [ ब्रह्मसाक्षात्कार ] साधन होनेका शक भृगुको कैसे हुआ ! [उत्तर—]

सावशेषोक्तेः । अन्नादि व्रक्षण  
प्रतिपत्तौ द्वारं लक्षणं च यतो  
वा इमानीत्याद्युक्त्यान् । सावशेषं  
हि तत्साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात् ।

अन्वया हि स्वरूपणैव ब्रह्म  
निर्देशस्य विद्यासवे पुत्रायेद  
मित्थरूपं ब्रह्मेति । न चैवं निर  
दिष्टस्त्विं तर्हि ? सावशेषमेवोक्त-  
यान् । अतोऽब्रह्मण्यते नूनं साध-  
नान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्म-  
विज्ञान प्रतीति । तपोविशेषप्रति-  
पत्तिस्तु सर्वसाधकत्वमत्वात् ।  
सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयानां  
साधनानां तप एव साधकत्वमं  
साधनमिति हि प्रसिद्धं लोके ।  
तस्मात्पित्रानुपदिष्टमपि ब्रह्म  
विज्ञानसाधनत्वेन तप प्रतिपेक्षे  
मृगुः । तस्य तपो बाह्यान्तः  
करणसमाधानं तद्वद्वारकन्वाद्वास्त-

क्योक्ति [ उसके पिताका ] कथन  
सावशेष ( जिसमें कुछ कइना शेष  
रह गया हो—एसा ) था । ब्रह्मणमें  
'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यदि  
रूपसे ब्रह्मादि ब्रह्मकी प्राप्तिकर द्वार  
और लक्षण कहा था । वह सावशेष  
( असम्पूर्ण ) था, क्योकि उससे  
ब्रह्मकर साक्षाद् निर्देश नहीं होता ।

नहीं तो, उसे अपने विद्यासु  
पुत्रके प्रति 'वह ब्रह्म ऐसा है' इस  
प्रकार उसका स्वरूपसे ही निर्देश  
करना चाहिये था । किन्तु इस  
प्रकार उसने निर्देश किया नहीं है ।  
तो किस प्रकार किया है ? उसने  
उसे सावशेष ही उपदेश किया है ।  
इससे जाना जाता है कि उसके  
पिताको ब्रह्मण ही ब्रह्मज्ञानके प्रति  
किसी अन्य साधनकी भी अपेक्षा  
है । सबसे बड़ा साधन होनेके  
कारण मृगुने तपको ही विशेष  
रूपसे ब्रह्मण किया । जिनके साध्य  
विषय निश्चय हैं उन साधनोंमें तप  
ही सबसे अधिक सिद्धि प्राप्त करने-  
वाला साधन है—यह बात अकर्म  
प्रसिद्ध ही है । इसलिये पिताके  
उपदेश न देमेपर भी मृगुने ब्रह्म-  
विज्ञानके साधनरूपसे तपको स्वीकार  
किया । वह तप बाह्य इन्द्रिय  
और अन्त करणका समुद्दिष्ट करना

प्रतिपद्येः । “मनसश्चेन्द्रियाणां  
 च कौकाल्यं परमं तपः ।  
 तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः  
 पर उच्यते” (महा० श्वा० २५०।  
 ४ ) इति स्मृतेः । स च तपस्त-  
 प्त्वा ॥ १ ॥

ही है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति उसीके  
 द्वारा होमेवाची है । “मन और  
 इन्द्रियोंकी एकत्रप्राप्ति ही परम तप  
 है । वह सब धर्मोंसे उत्कृष्ट है और  
 वही परम धर्म कहा जाता है” — इस  
 स्मृतिसे यही बात सिद्ध होती है ।  
 उस भृगुने तप करके— ॥ १ ॥

इति सृगुवक्त्र्या प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

## द्वितीय अनुवाक

जब ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके स्वरूप पटकर  
 भृगुका पुनः ब्रह्मके पास जाना और उसके  
 उपदेशसे पुनः तप करना

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्यथैव सत्स्विमानि  
 भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्न  
 प्रयन्त्यभिसविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव ब्रह्मणं पितर  
 मुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तथ होवाच ।  
 तपसा ब्रह्मे विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत ।  
 स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब  
 प्राणी उत्पन्न होते हैं, उपज होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा  
 प्रपन्न करते समय अन्नमें ही छिन्न होने हैं । ऐसक जानकर वह फिर  
 अपने पिता ब्रह्मके पास आया [ और कहा—] ‘भगवन् । मुझे ब्रह्मका  
 उपदेश कीजिये ।’ ब्रह्मने उसमें कहा—‘ब्रह्मसे तपके द्वारा जाननेकी

इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है ।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

अन्नं ब्रह्मेति ध्यजानाद्वि  
ज्ञातवान् तद्वि यथाकलक्षण-  
पेतम् । कथम् ? अन्नाद्भ्येव  
स्त्विवमानि भूतानि जायन्ते,  
अन्नेन ज्ञातानि जीवन्ति अन्न  
प्रयन्त्यभिसंविञ्चन्तीति तस्मा-  
त्पुक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभि  
प्रायः । स एषं तपस्तप्तवान्  
ब्रह्मेति विज्ञायान्नलक्षणेनोप  
पस्था च पुनरेव संशयमापन्नो  
वरुणं पितरमुपससार अधीहि  
मगधो ब्रह्मेति ।

कः पुनः संशयहृत्तरस्येत्यु  
च्यते—अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात् ।  
तपसः पुनः पुनरुपदेशः साधना  
विश्रमस्वावधारणार्थः । यावद्  
ज्ञाप्यो लक्षण निरतिशयं न भवति ।  
यावच्च जिज्ञासा न निवर्तत  
तावत्तप एव ते साधनम् । तप

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । वही  
उपर्युक्त लक्षणसे पुक्त है । सो कैसे ?  
क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब  
प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर  
अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा  
मरणोत्पन्न होनेपर अन्नमें ही खीन  
ही जाते हैं । अतः तात्पर्य यह है  
कि अन्नका ब्रह्मरूप होना ठीक ही  
है । वह इस प्रकार तप करके तथा  
अन्नके लक्षण और पुक्तिके द्वारा 'अन्न  
ही ब्रह्म है' ऐसा जानकर फिर भी  
संशयप्रसूत हो पिता वरुणके पास  
जाया [ और बोला—] 'मगध !  
तुझे ब्रह्मका उपदेश करिये' ।

परन्तु इसमें उसके संशयका  
कारण क्या था ? सो बातअप्या  
जाता है । अन्नकी उत्पत्ति देखनेसे  
[ उसे ऐसा समझे हुआ ] । यहाँ  
तपका जो बारम्बार उपदेश किया  
गया है वह उसके प्रबल साधनत्व  
प्रदर्शित करनेके लिये है । क्योंकि  
अबतक अन्नका लक्षण निरतिशय  
न हो जाय और अबतक ठेकी  
जिज्ञासा शान्त न हो तबतक तप  
ही तेरे लिये साधन है । तात्पर्य यह

सैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्पर्यः । । है कि वृ तपसे ही ब्रह्मको जाननेकी  
 श्रुत्वान्यत् ॥ १ ॥ । इच्छ कर । शेष अर्थ सरल है ॥ १ ॥

इति श्रुत्वान्यत् द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

## तृतीय अनुवाक

प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसीमें ब्रह्मके लक्षण बटाकर  
 श्रुत्वान्यत् पुनः ब्रह्मके पास जाना और उसके  
 उपदेशसे पुनः तप करना

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाञ्चैव स्रष्ट्विमानि  
 भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राण  
 प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव ब्रह्म  
 पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तश्च होवाच ।  
 तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपो  
 ऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

प्राण ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय प्राणसे ही ये प्राणी  
 उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर प्राणसे ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख  
 होनेपर प्राणमें ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता  
 ब्रह्मके पास गया [ और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मको उपदेश  
 कीजिये । उससे ब्रह्मने कहा—'वृ तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर ।  
 तप ही ब्रह्म है ।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

## चतुर्थ अनुवाक

मम ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण पटाकर

भृगुञ्च पुनः ब्रह्मके पास जाना और उसके

उपदेशसे पुनः तप करना

मनो ब्रह्मेति न्यजानात् । मनसो ह्येव खल्विमानि  
भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीवन्ति । मन  
प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव ब्रह्मण  
पितरमुपससार । अशीहि मगवो ब्रह्मेति । तश्च ह्येवाच ।  
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यस ।  
स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

मम ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय मनसे ही ये जीव  
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर मनके द्वारा ही जीवित रहते हैं और  
अन्तमें प्रयाण करते हुए मनमें ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जानकर  
बह फिर पिता ब्रह्मके पास गया [ और बोला—] ‘मगवन् ! मुझे  
ब्रह्मके उपदेश कीजिये । ब्रह्मने उससे कहा—‘तपसे ब्रह्मसे  
जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है ।’ तब उसने तप किया और उसने  
तप करके—॥ १ ॥



## पञ्चम अनुवाक

विज्ञान ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर  
 भृगुकर पुनः ब्रह्मके पास आना और  
 उसके उपदेशस पुनः तप करना

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ब्रह्मेव  
 खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि  
 जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसविशन्तीति । तद्विज्ञाय  
 पुनरेव ब्रह्मं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति  
 तद्ब्रह्मोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ।  
 स तपोऽसप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

विज्ञान ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय विज्ञानसे ही वे  
 सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हानर विज्ञानसे ही जीवित रहते हैं  
 और फिर मरणो-मुक्त होकर विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं । ऐसा  
 जानकर वह फिर पिता ब्रह्मके समीप आया [ और बोला—] 'भगवन् !  
 मुझे ब्रह्मकर उपदेश कीजिये ।' ब्रह्मन उससे यज्ञा—'तु उसके द्वारा  
 ब्रह्मके जाननकी इच्छा कर । तप ही ब्रह्म है । तब उसने तप किया  
 और तप करके —॥ १ ॥

## षष्ठ अनुवाक

आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा मृगुञ्ज निश्चय करना तथा इस मार्गवी  
वारुणी विद्याका महत्त्व और फल

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्दृश्येभ्य  
स्त्वस्त्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि  
जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा  
मार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य  
एष वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्  
भवति, प्रजया पशुभिर्यज्ञवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि आनन्दसे ही ये सब प्राणी  
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और  
प्रमाण करते समय आनन्दमें ही समा जाते हैं । वह यह मृगुञ्जि जानी  
हुई और वारुणी उपदेश की हुई विद्या परमाकाशमें स्थित है । जो एसा  
जानता है वह ब्रह्ममें स्थित होता है; वह अन्नवान् और अन्नकर भोक्तृ  
होता है; प्रजा पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके  
कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

एषं सप्तसा विशुद्धात्मा  
प्राणादिषु साकम्बेन ब्रह्मभ्रमण  
मपश्यन्शर्नःसर्नरन्तरानुप्रविश्या

इस प्रकार तबसे शुद्धचित्त हुए  
मृगुञ्ज प्राणाग्निमें पूर्णतया ब्रह्मका  
लक्षण न देखकर धीरे-धीरे भीतरकी  
ओर प्रवेश कर तत्सक्य साधनक

न्तरतममानन्दं ब्रह्म विज्ञातवां  
 त्वपसैव साधनेन मृगुः । तस्माद्  
 अविच्छिन्नासुना वासान्तःकरण-  
 समाधानलक्ष्यं परमं तपःसाधन  
 मनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः ।

अधुनास्माधिकस्तोत्रसुत्य  
 धृतिः स्वन बचनेनाध्यायिका  
 निर्वर्त्यमर्थमाचष्टे-सैषा मार्गिणी  
 मृगुणा विदिता बरुणेन प्रोक्ता  
 बारुणी विद्या परमे व्योमन्द्दया  
 काशगुहायां परम आनन्देऽद्वैते  
 प्रतिष्ठिता परिसमाप्तात्मयादात्म-  
 नोऽधिप्रवृत्ता । य एवमन्योऽपि  
 त्वपसैव साधनेनानेनैव क्रमेणा  
 नुप्रविश्यान्न्द ब्रह्म वेद स पर्व  
 विद्याप्रतिष्ठानात्प्रतिविष्टस्वानन्द  
 परम ब्रह्मणि ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।

एष्ट च फलं तस्योच्यते—

अन्नबान्प्रभृतमन्नमस्य विद्यत

द्वारा ही सकृद्वि अपेक्षा अन्तरतम  
 आनन्दको ब्रह्म जाना । अत जो  
 ब्रह्मको जाननेकी इच्छावात्त हो उसे  
 साधनरूपसे वाद्य इन्द्रिय और  
 अन्त करणका समाधानरूप परम  
 तप ही करना चाहिये—यह इस  
 प्रकरणका तात्पर्य है ।

अब आख्यायिकासे निवृत्त होकर  
 धृति अपने ही वाक्यसे आख्यायिका-  
 से निवृत्त होनेका अर्थ इच्छती  
 है—अन्नमय अन्नमासे प्रारम्भ हुई  
 यह मार्गिणी—मृगुकी आनी हुई और  
 बारुणी—बरुणकी कही हुई विद्या  
 परमकाशमें इन्द्रयाकाशस्थित गुहा-  
 के भीतर अद्वैत परमानन्दमें प्रतिष्ठित  
 है अर्थात् यही इसका पर्यवसान  
 होता है । इसी प्रकार जो कोई  
 दूसरा पुरुष भी इसी क्रमसे तपरूप  
 साधनके द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश  
 करके आनन्दको ब्रह्मरूपसे जानता  
 है वह इस प्रकार नियमों  
 स्थिति खाम परनसे आनन्द अर्थात्  
 परब्रह्ममें स्थिति प्राप्त करता है, यानी  
 ब्रह्म ही हो जाता है ।

अब उसका दृष्ट ( इस लोकमें  
 प्राप्त होनेवाला ) फल अतथाया  
 जाता है—अन्नबान्—प्रिसके पास

इत्यन्वान् । सप्तमात्रेण तु  
 सर्वो अन्वयानिति विधाया  
 विशेषा न स्यात् । एषमन्मची  
 त्यन्नादो दीप्ताभिर्मवतीस्पर्धः ।  
 महा भवति । केन महम्ममित्यत  
 जाह—प्रजया पुत्रादिना पशु  
 मिर्गवासादिभिर्भक्षवर्षसेन क्षम  
 दमद्वानादिनिमित्तेन सेजसा  
 महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या  
 क्षमप्रचारनिमित्तया ॥१॥

बहुत-सा अन्न हो उसे अन्नवान्  
 कहते हैं । \* अन्नकी सप्तमात्रने तो  
 सभी अन्नवान् हैं, अन्न [ यदि उस  
 प्रकार अर्थ किया जाय तो ]  
 विधाकी कोई विशेषता नहीं रहती ।  
 इसी प्रकार वह अन्नाद्—जो अन्नमक्षण  
 करे पानी पीतापि हो जाता है । वह  
 महान् हो जाता है । उसका महत्त्व  
 किस कारणसे होता है ? इसपर  
 कहते हैं—पुत्रादि प्रजा, गौ, अश्व  
 आदि पशु तथा भक्षतेज यानी क्षम,  
 दम एवं ज्ञानात्मिक कारण होनेवाले  
 सेजसे तथा कीर्ति यानी क्षमप्रचारके  
 कारण होनेवाली ख्यातिसे वह  
 महान् हो जाता है ॥ १ ॥

इति शृंगुपस्त्या पद्योऽनुवाकः ॥ १ ॥



• मूलमें केवल अन्नवान् है भाष्यमें उसका अर्थ प्रभूत ( बहुत-से )  
 अन्नवाला किया गया है । इससे यह संका होती है कि प्रभूत विशेषण  
 प्रयोग कही किया गया । इसीका अन्वयान् करके के निचे आगे का वाक्य है ।

## सप्तम अनुवाक

अन्नं निन्दा न करमात्स्यं व्रत तथा शरीर और प्राणरूप अन्न  
ब्रह्मके उपासकत्वे प्राप्त होनेवाले फलकाय वर्णन

अन्नं न निन्द्यात् । तद्ब्रतम् । प्राणो वा अन्नम् ।  
शरीरमन्नावम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः  
प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्न-  
मन्ने प्रतिष्ठित वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नावो भवति ।  
महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥१॥

अन्नकी निन्दा न करे । यह ब्रह्मका व्रत है । प्राण ही अन्न है  
और शरीर अन्नाद है । प्राणमें शरीर स्थित है और शरीरमें प्राण स्थित  
है । इस प्रकार [ एक दूसरेके आश्रित होनेसे वे एक दूसरेके अन्न हैं;  
व्रत ] ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको  
अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित ( प्रसन्न ) होता है, अन्नमन्  
और अन्नमोक्ष होता है । प्रजा, पशु और ब्रह्मदेवके कारण महान् होता  
है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

किं चान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म  
विद्यार्थं यस्मात्प्राणाद्गुरुमिह  
अन्नं न निन्द्यात्तदस्यैर्षं ब्रह्म-  
विदो व्रतमुपदिश्यते । व्रतोप

इसके सिवा क्योंकि द्वारभूत  
अन्नके द्वारा ही ब्रह्मको जाना है  
इसलिये गुरुके समान अन्नकी भी  
निन्दा न करे । इस प्रकार ब्रह्म-  
वेदाके लिये यह व्रत उपदेश किया  
जाता है । यह व्रतका उपदेश

देशोऽन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्स्व

धान्नस्य ब्रह्मोपलब्ध्युपायत्वात् ।

प्राणो वा अन्नम्, शरीरान्त  
मन्वात्प्राणस्य । यद्यस्यान्तः  
प्रतिष्ठितं भवति तत्तस्यान्नं भव  
तीति । शरीरे च प्राण प्रति  
ष्ठितस्तस्मात्प्राणोऽन्नं शरीरमन्ना-  
दम् । तथा शरीरमप्यन्नं प्राणा-  
दन्नादः । कस्मात् ? प्राणे शरीरं  
प्रतिष्ठितम्; तन्निमित्तत्वाच्छरी-  
रमित्येते । तस्माच्चदेतदुभयं शरीरं  
प्राणधान्नमन्नादम् । येनान्यान्य-  
स्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम् । येना-  
न्यान्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः ।  
तस्मात्प्राणः शरीरं बोधयमन्न  
मन्नादं च ।

स य एवमेतदन्नमन्ने प्रति-  
ष्ठितं वेद प्रतिष्ठित्यन्नान्नादा-  
रमनैव । किं चान्नवान्नादा भव-  
तीत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

अमकी स्तुतिके छिये है और अमकी  
स्तुतिपात्र्या ब्रह्मोपलब्धिकर स्रभन  
होनेके कारण है ।

प्राण ही अन्न है, क्योंकि प्राण  
शरीरके भीतर रहनेवाला है । जो  
निसके भीतर स्थित रहता है वह  
उसका अन्न हुआ करता है । प्राण  
शरीरमें स्थित है, इसलिये प्राण  
अन्न है और शरीर अन्नाद है ।  
इसी प्रकार शरीर भी अन्न है और  
प्राण अन्नाद है, कैसे ?—प्राणमें  
शरीर स्थित है; क्योंकि शरीरकी  
स्थिति प्राणके ही कारण है अत-  
ये दोनों शरीर और प्राण अन्न और  
अन्नाद हैं; क्योंकि ये एक दूसरेमें  
स्थित हैं इसलिये अन्न हैं और  
क्योंकि एक दूसरेके आधार हैं  
इसलिये अन्नाद हैं । अतएव प्राण  
और शरीर दोनों ही अन्न और  
अन्नाद हैं ।

वह जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें  
स्थित जानता है, अन्न और अन्नाद  
रूपसे ही स्थित होता है तथा अन्न  
वान् और अन्नाद होता है—इत्यादि  
दोय अर्थ पूर्ववत् है ॥ १ ॥

## अष्टम अनुवाक

अन्नस्य त्याग न करणारूपं व्रतं तथा अन्नं चैव ज्योतिरूपं

अन्नं न करणं उपासकस्यै प्राप्तं होनेवाले फलस्य वर्णन

अन्नं न परिचक्षीत् । तद्व्रतम् । आपो वा अन्नम् ।

ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः  
प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने  
प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्  
भवति प्रजया पशुभिर्ग्रहवर्षसेन । महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नस्य त्याग न करे । यह व्रत है । अन्न ही अन्न है । ज्योति  
अन्नाद है । अन्नमें ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योतिमें अन्न स्थित है ।  
इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको  
अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद  
होता है, प्रजा, पशु और वसुदेवके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके  
कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अन्नं न परिचक्षीत् न परि  
हरेत् । तद्व्रतं पूर्वघस्तुस्पर्शम् ।  
तदेव श्रुमाश्रुमकल्पनया अपरि  
क्षिण्यमाणं स्तुतं महीकृतमर्षं स्यात् ।  
एवं यथाक्तमुत्तरेष्वप्यापो वा  
अन्नमित्यादिषु योजयत् ॥ १ ॥

अन्नस्य प्रत्याख्यानं कर्षात् त्याग  
न करे, यह व्रत है—यह व्रत  
पूर्वघत् स्तुतिके किये है । इस  
प्रकार श्रुमाश्रुमकी कल्पनासे उपेक्षा  
न किये हुआ अन्न ही यहाँ स्तुति  
एवं महिमाम्बित किया जाता है ।  
तथा आगेके 'आपो वा अन्नम्'  
इत्यादि वाक्योंमें भी पूर्वोक्त कर्षकी  
ही योजना करनी चाहिये ॥ १ ॥

## नवम अनुवाक

अवसन्नरूप प्रथम तथा पृथिवी और आकाशरूप अथ-अथक  
उपसक्तस्ये प्राप्त होनेवाले फलस्य वर्णन

अन्न बहु कुर्वीत । तद्वतम् । पृथिवी वा अन्नम् ।  
आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे  
पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य  
एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नाद्यो  
भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन ।  
महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नको बड़ाई—यह प्रथम है । पृथिवी ही अन्न है । आकाश  
अन्नाद है । पृथिवीमें आकाश स्थित है और आकाशमें पृथिवी स्थित है ।  
इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको  
अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद  
होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके  
कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अप्सु ज्यातिरित्यप्सोति

पान्नाम्नादगुणत्वेनोपासकस्या-

नस्य बहुफल्यं प्रथम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त 'अप्सु ज्याति' आदि  
मन्त्रके अनुसार अन्न और ज्योतिषकी  
अन्न और अन्नाद गुणसे उपासना  
करनेवालेके किये अन्नको बड़ाना  
प्रथम है' [-यह बात इस मन्त्रमें  
कही गयी है ] ॥ १ ॥



## दशम अनुवाक

प्राणागत अतिविष्णो आप्तव और अन्न देनेका विषय एवं  
उससे प्राप्त होनेवाला फल) तथा प्रश्नराप्तरसे  
नक्षत्री उपासनाका वर्णन

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षति । तद्ब्रतम् । तस्माद्यथा  
कमा च विषया षड्न्नं प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्न  
मित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नश्राद्धम् । मुखतोऽस्मा  
अन्नश्राध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नश्राद्धम् । मध्यतो-  
ऽस्मा अन्नश्राध्यते । एतद्वै अन्ततोऽन्नश्राद्धम् ।  
अन्ततोऽस्मा अन्नश्राध्यते ॥ १ ॥

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति  
प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः ।  
विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ देवीः ।  
वृत्तिरिति वृष्टौ । घलमिति विद्युति ॥ २ ॥

यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृत  
मानन्द इत्युपरये । सर्वमित्याकारे । सत्प्रतिष्ठेत्युपासीत ।  
प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान्  
भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥ ३ ॥

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः ।  
तद्ग्रहेत्युपासीत । ग्रहवान् भवति । तद्ग्रहणः परिमर

इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विपन्त सपत्ना । परि  
येऽप्रिया भ्रातृव्या । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये  
स एकः ॥ ४ ॥

जपने पढ़ो रहनेके क्रिये जाये हुए किस्तीक मी परित्यग न करे ।  
यह मत है । अत किस्ती-न किस्ती प्रकारसे बहुत-सा अन्न प्राप्त करे,  
क्योंकि यह ( अन्नोपासक ) उस ( गृह्यागत अतिथि ) से धैरे अन्न  
तैयार किया है ऐसा कहता है । जो पुरुष मुक्त ( प्रथम अवस्थामें  
अथवा मुष्पवृत्तिसे यानी सत्कारपूर्वक ) सिद्ध क्रिय्य हुआ अन्न देता है  
उसे मुष्पवृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है । जो मध्यत ( मध्यम वायुमें  
अथवा मध्यम वृत्तिसे ) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यम वृत्तिसे  
ही अन्नकी प्राप्ति होती है । तथा जो अन्तत ( अन्तिम अवस्थामें अथवा  
मिहृष्ट वृत्तिसे ) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मिहृष्ट वृत्तिसे ही  
अन्न प्राप्त होता है ॥ १ ॥ जो इस प्रकार जानता है [ उसे पूर्वोक्त फल  
प्राप्त होता है । अब आगे प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाकर वर्णन किया  
जाता है—] ब्रह्म बाणीमें क्षेम ( प्राप्त वस्तुके परिरक्षण ) रूपसे [ स्थित  
है—इस प्रकार उपासनीय है ], योगश्रेमरूपसे प्राण और अपानमें,  
कर्मरूपसे हार्षोमि, गतिरूपसे चरणोमि और त्यागरूपसे पायुमें [ उपासनीय  
है ], यह मनुष्यसम्बन्धिनी उपासना है । अब देवताओंसे सम्बन्धित  
उपासना कही जाती है—गृहिरूपसे वृद्धिमें, बजरूपसे विपुत्रमें ॥ २ ॥  
पसरूपसे पशुर्धमें, ज्योतिरूपसे मन्त्रोमि पुत्रादि प्रजा, अमृतत्व और  
आनन्दरूपसे उपस्वमें तथा सर्वरूपसे आकाशमें [ ब्रह्मकी उपासना करे ] ।  
यह ब्रह्म सबका प्रतिष्ठा ( आधार ) है—इस मन्त्रसे उसकी उपासना  
करे । इससे उपासक प्रतिष्ठान् होता है । यह मह [ नामक व्याहृति  
अथवा तेज ] है—इस मन्त्रसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक महान्  
होता है । यह मन है—इस प्रकार उपासना करे । इससे उपासक  
मनश्चन् ( मनन करनेमें समर्प ) होता है ॥ ३ ॥ यह नम है—इस

म्रावते उसकी उपासना करे । इससे सम्पूर्ण काम्य पदार्थ उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं । वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । इससे वह ब्रह्मनिष्ठ होता है । वह ब्रह्मका परिमर ( आकाश ) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । इससे उससे ड़ोष करनेवाले उसके प्रति-पक्षी मर जाते हैं, तथा जो अप्रिय भातृम्य ( भ्रात्रे पुत्र ) होते हैं वे भी मर जाते हैं । वह, जो कि इस पुरुषमें है और वह जो इस आदित्ममें है, एक है ॥ ४ ॥

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य

वसती वसतिनि  
मिर्षं कंभन कंधि

दपि न प्रत्याचक्षीत वसत्यर्थ  
मागतं न निवारयेदित्यर्थः ।  
वासे च दत्तेऽवस्यं दानं दात  
व्यम् । तस्माद्यथा कथा च  
विधया येन केन च प्रकारेण  
बहन्नं प्राप्नुयाद्बहन्नसंप्रदं  
हृर्पादित्यर्थः ।

यस्मादन्नवन्ता विद्रांसोऽभ्या-  
गतायात्रार्थिनेऽराधि संसिद्ध  
मसा अभमित्याचक्षते न  
नास्तीति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति ।  
तस्माद्य हेतोर्बहन्नं प्राप्नुयादिति  
पूर्वेण सपन्नः । अपि चान्नदा-

तथा पृथिवी और आकाशकी

[ अन्न एवं अन्नादरूपसे ] उपासना करनेवालेके यहाँ रहनेके लिये कोई भी आगे उसे उसका परित्याग नहीं करना चाहिये अर्थात् अपने यहाँ निवास करनेके लिये आये हुए किसी भी व्यक्तिको वह निवारण न करे । जब किसीको रहनेका स्थान दिया जाय तो उसे भोजन भी अन्न देना चाहिये । अतः जिस-किसी भी विधिसे यानी किसी-किसी प्रकार बहुत-सा अन्न प्राप्त करे; अर्थात् स्वयं अन्न-संप्रद करे ।

क्योंकि भक्तान् उपासकम्य अन्न यहाँ आये हुए अन्नापत्ति 'अन्न तीव्र है' ऐसा कहते हैं— 'अन्न नहीं है' ऐसा कहकर उसका परित्याग नहीं करते । इसलिये भी बहुत-सा अन्न उपार्जन करे—इस प्रकार इसका पूर्वशक्यसे सम्बन्ध

नस्य माहात्म्यमुच्यते । यथा  
यत्कालं प्रयच्छत्यन्नं तथा  
तत्कालमेव प्रत्युपनमते । कथं  
मिति तदेतदाह—

एतदा अन्नं मुरवतो मुख्ये  
प्रथमे वयसि सु  
सुमा वा पुरवा  
पूजापुरःसरमभ्यागतायाश्चाग्निने  
राजं ससिद्धं प्रयच्छतीति वाक्य  
शेषः । तस्य किं फलं स्यादि  
त्युच्यते—मुख्यतः पूर्वे वयसि  
मुख्यया वा वृष्यासा अन्नादा  
यान्नं राभ्यते यथादच्छुपतिष्ठत  
इत्यर्थः । एवं मध्यतो मध्यमे  
वयसि मध्यमेन घोषचारेण ।  
तथाऽन्ततोऽन्ते वयसि अपन्येन  
घोषचारेण परिभवेन तथैवास्मै  
राभ्यते संसिध्यत्यन्नम् ॥ १ ॥

य एवं वेद् य एवमन्नस्य  
यथोक्तं माहात्म्यं वेद् तद्दानस्य  
य फलम् तस्य यथोक्तं फलं  
ह्युपनमते ।

है । जब अन्नदानका माहात्म्य कहा  
जाता है—जो पुरुष जिस प्रकार  
और जिस समय अन्न-दान करता  
है उसे उसी प्रकार और उसी समय  
उसकी प्राप्ति होती है । ऐसों जिस  
प्रकार होता है । सो बतलाते हैं—

जो पुरुष मुख्य—मुख्य—प्रथम  
अवस्थामें अपना मुख्य इतिसे पानी  
सत्कारपूर्वक रात्र अर्पात् सिद्ध  
( फल ) अन्नको वस्त्रे यहाँ आये  
इए अन्नापी अग्निपिकी देता है—  
यहाँ प्रयच्छति ( देता है ) यह  
क्रियाएव अन्नयोर ( अनुक्त वंश )  
है—उसे क्या फल मिलता है, सो  
बतलाया जाता है—इस अन्नदाताको  
मुख्यत—प्रथम अवस्थामें अपना  
मुख्य इतिसे अन्न प्राप्त होता है;  
अर्पात् जिस प्रकार दिया जाता है  
उसी प्रकार प्राप्त होता है । इसी  
प्रकार मध्यत मध्यम आयुमें अपना  
मध्यम इतिसे तथा अन्तत—अन्तिम  
आयुमें अपना निष्ठुय इतिसे पानी  
निरस्कारपूर्वक देनेसे इसे उसी  
प्रकार उसकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जो इस प्रकार जानता है—जो  
इस प्रकार अन्नका पूर्णत माहात्म्य  
और उसके दानका फल जानता है  
उसे पूर्णत फलकी प्राप्ति होती है ।

इदानीं ब्रह्मण्य उपासनप्रकार  
 श्योषणम्- उच्यते-क्षेम इति  
 ब्रह्मण्योपाधि वाचि । क्षेमो ना-  
 श्योषणी उच्यते' मोषात्परिरक्षणम् ।  
 ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठित  
 मित्युपासम् । योगक्षेम इति,  
 योगोऽनुपाचसोपादानम्, तौ  
 हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः सतो-  
 र्भवतो यद्यपि तथापि न प्राणा-  
 पाननिमित्तादेव किं तर्हि ब्रह्म-  
 निमित्तौ; तस्याद्ब्रह्म योगक्षेमा-  
 स्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठित-  
 मित्युपासम् ।

एवमुच्यतेष्वन्वेषु तेन तेना-  
 स्मना ब्रह्मोपासम् । कर्मणो  
 ब्रह्मनिर्भर्त्यत्वाद्दस्तयोः कर्मा-  
 स्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपा-  
 सम् । गतिरिति पादयोः ।  
 विमुक्तिरिति पायी । इत्येता  
 मानुषीर्मुच्येषु मवा मानुष्यः

अथ ब्रह्मक्षी उपासनाका [ एक  
 वीर ] प्रकार कथय्यता जाता है—  
 'क्षेम है' इस प्रकार वाणीमें । प्राप्त  
 पदार्थकी रक्षा करनेका नाम 'क्षेम'  
 है । वाणीमें ब्रह्म क्षेमरूपसे स्थित  
 है—इस प्रकार उसकी उपासना  
 करनी चाहिये । 'योगक्षेम' उच्यते  
 वस्तुका प्राप्त करना 'योग' कहलता  
 है । वे योग वीर क्षेम यद्यपि  
 कथ्यन्त प्राण्य वीर अपानके रखते  
 हुए ही होते हैं, तो भी उनका  
 कारण प्राण एवं अपान ही नहीं  
 है । तो उनका कारण क्या है ?  
 वे ब्रह्मके कारण ही होते हैं । अतः  
 योगक्षेमरूपसे ब्रह्म प्राण वीर अपान  
 में स्थित है—इस प्रकार उसकी  
 उपासना करनी चाहिये ।

इसी प्रकार आगेके अन्य पर्यायों-  
 में भी उम-उमके रूपसे ब्रह्मकी ही  
 उपासना करनी चाहिये । कर्म  
 ब्रह्मकी ही प्रेरणासे निश्चय होता है;  
 अतः वापोंमें ब्रह्म कर्मरूपसे स्थित  
 है—इस प्रकार उसकी उपासना  
 करनी चाहिये । अरणोंमें गतिरूपसे  
 वीर पायुमें विमुक्तिरूपसे [ प्रतिष्ठित  
 समझकर उसकी उपासना करे ] ।  
 इस प्रकार यह मानुषी—मनुष्योंमें

समाह्वयः, आध्यात्मिक्यः समाह्वयः  
ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानी  
त्पर्यः ।

रहनेशली समाह्वय है । तात्पर्य यह कि  
ये आध्यात्मिक समाह्वय-ज्ञान-विज्ञान  
पानी उपासनार्थ हैं ।

अथानन्तरं दैवीर्देव्यो देवेषु

जब इसका पश्चात् दैवी-देव  
सम्बन्धिनी अर्थात् देवताओंमें होने  
वाली समाह्वयें करी जाती हैं । तब  
इस भावमें वृद्धिमें [ ब्रह्मकी उपासना  
कर ] । अनादिक द्वारा वृद्धि वृद्धि  
का कारण है । अतः वृद्धिरूपसे  
अपने ही वृद्धिमें स्थित है-इस प्रकार  
उसकी उपासना करनी चाहिये ।  
इसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें भी उम-  
ठनक रूपसे ब्रह्मकी ही उपासना  
करनी चाहिये । अर्थात् ब्रह्मरूपसे  
विष्णुमें ॥ २ ॥ पराक्रमसे पशुओंमें,  
ज्योतिष्यसे महाज्योतिष्य, प्रजापि  
( पुत्राणि प्रजा ) अपृत-अर्थात् पुत्र-  
द्वारा विनृक्षणसे मुक्त होनेके द्वारा  
अपृतत्वकी प्राप्ति और आनन्द-सुख  
ये सब उपासके निमित्तमें ही  
दानकी दे; अतः इनके रूपमें  
अपने ही उपासके स्थित है-इस प्रकार  
उसकी उपासना करनी चाहिये ।

महाः समाह्वय उ  
च्यन्ते । वृष्टिरिति

दैवी सम्बन्ध

वृष्टौ । वृष्टेरन्नादिद्वारेण वृष्टि-  
हेतुत्वाद्ब्रह्मस्यैव वृष्ट्यात्मना वृष्टौ  
अवस्थितमित्युपास्यम् । तथान्येषु  
तेन सनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम् ।  
तथा बठरूपेण विष्णुति ॥ २ ॥  
पशुरूपेण पशुषु । ज्योतीरूपेण  
नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतममृतत्व  
प्राप्तिः पुत्रेण अणविमाद्यद्वारणा  
नन्दः सुखमित्येतत्सर्वेषुपम्यनि  
मित्तं प्रज्ञैवानेनात्मनोपस्य प्रति  
ष्ठितमित्युपास्यम् ।

सर्वं द्वाकाद्ये प्रतिष्ठितमता  
परमब्रह्माद्ये तद्द्वैतैत्युपास्यम् ।  
वपाद्यार्थं प्रज्ञैव । तन्मात्तद्

मह बुद्ध आवाशने ही स्थित  
है । अतः अवाशने जो बुद्ध है  
वह मह ब्रह्म ही है-इस प्रकार  
उसकी उपासना करनी चाहिये ।  
तथा वह आशान भी ब्रह्म ही है ।

सर्वस्य प्रतिष्ठेस्युपासीत । प्रतिष्ठा

गुणोपासनास्यप्रतिष्ठावान्भवति ।

एवं पूर्वेष्वपि यद्यत्तदधीनं फलं

तद्भ्रष्टीव तदुपासनाच्चद्भ्रान्भवतीति

इष्टम्पम् । श्रुत्यन्तराच्च—“तं

यथा यथापासते तदेव भवति”

इति ।

तन्मह इत्युपासीत । महो

महत्त्वगुणवत्तदुपासीत । महान्

भवति । तन्मन इत्युपासीत ।

मननं मनः । मानवान्भवति

मननसमर्थो भवति ॥ ३ ॥ तन्मम

इत्युपासीत । नमनं नमा नमन

गुणवत्तदुपासीत । नम्यन्ते प्रह्वी

भवन्त्यस्मा उपासित्रे कामाः

काम्यन्त इति भाग्या विपया

इत्यर्थः ।

कृत वह सकृ प्रतिष्ठा ( आत्म्य )

है—इस प्रकार उसकी उपासना करे ।

प्रतिष्ठा गुणवान् कर्त्तव्यी उपासना

करनेसे उपासक प्रतिष्ठवान् होता

है । ऐसा ही पूर्व सब फलमें

समझना चाहिये । जो-जो उसके

अधीन फल है वह सब ही है ।

उसकी उपासनासे पुरुष उसी फलसे

मुक्त होता है—ऐसा जानना चाहिये ।

परी बात “जिस-जिस प्रकार उसकी

उपासना करता है वह ( उपासक )

बढ़ी हो जाता है” इस एक इसी

श्रुतिसे प्रमाणित होती है ।

वह मह है—इस प्रकार उसकी

उपासना करे । महः अर्थात् महत्त्व

गुणवत्त्व है—ऐसे मात्रसे उसकी

उपासना करे । इससे उपासक

महान् हो जाता है । वह मन है—

इस प्रकार उसकी उपासना करे ।

मननक नाम मन है । इससे वह

मानवान्—मनमें समर्थ हो जाता है

॥ ३ ॥ वह नम है—इस प्रकार उसकी

उपासना करे । नमनक नाम ‘नम’

है अर्थात् उसे नमन-गुणवान् समझ-

कर उपासना करे । इससे उस

उपासकके प्रति सम्पूर्ण काम—जिनकी

कामना की जाय वे शीघ्र दिव्य

मत्त अर्थात् विजय हो जाते हैं ।

तद्गमेत्युपासीत । ब्रह्म परि  
 हृतममित्युपासीत । ब्रह्मवांस्तु  
 गुणो भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर  
 इत्युपासीत । ब्रह्मण्यः परिमरः  
 परिभ्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता  
 विद्युवृष्टिचन्द्रमा आदि  
 स्योऽभिरित्येताः । अतो वायुः  
 परिमरः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । स  
 एष एवायं वायुराकाशेनानन्य  
 इत्माकाशो ब्रह्मण परिमरः ।  
 तमाकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः  
 परिमर इत्युपासीत ।

वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी  
 उपासना करे । ब्रह्म धामी सबसे  
 बड़ा हुआ है—इस प्रकार उपासना  
 करे । इससे वह ब्रह्मवान्—ब्रह्मके-से  
 गुणवाच्य हो जाता है । वह ब्रह्मका  
 परिमर है—इस प्रकार उसकी  
 उपासना करे । ब्रह्मका परिमर—  
 जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य  
 और अग्नि—ये पाँच देवता मृत्युको  
 प्राप्त होते हैं उन्हे परिमर कहते हैं,  
 अत वायु ही परिमर है, जैसे कि  
 [ 'वायुर्वाच संकर्मा ' इस ] एक  
 अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । यही  
 यह वायु आकाशसे अभिन्न है, इसलिये  
 आकाश ही ब्रह्मका परिमर है । अत  
 वायुकाय आकाशकी 'यह ब्रह्मका  
 परिमर है' इस भावसे उपासना करे ।

एनमेवविदं प्रतिस्पर्धिनो  
 द्विपन्तोऽद्विपन्तोऽपि सपत्ना यतो  
 भवन्त्यता विशेष्यन्ते द्विपन्तः  
 सपत्ना इति, एनं द्विपन्तः  
 सपत्नास्ते परिभ्रियन्ते प्राणाश्च  
 इति । किं च ये चाग्निषा अस्य  
 भावुष्या अद्विपन्तोऽपि ते च  
 परिभ्रियन्ते ।

इस प्रकार जाननेवाले इस  
 उग्रसफके द्वेष करनेवाले प्रतिपक्षी—  
 क्योंकि प्रतिपक्षी द्वेष न करनेवाले  
 भी होते हैं इसलिये यहाँ 'द्वेष  
 करनेवाले' यह विशेषण दिया गया  
 है—मर जाते हैं अर्थात् प्राण त्याग  
 देते हैं । तथा इसके जो अद्विप  
 भावुष्य होते हैं वे, द्वेष करनेवाले  
 न होनेपर भी, मर जाते हैं ।



‘प्राणो वा अन्नं क्षीरमन्ना  
अन्मन्मोक्षं दम्’ इत्यारम्याका  
रित्वात्परम् शान्तस्य कार्यस्यै  
वाभावादस्वमुक्तम् ।

उक्तं नाम किं तेन ?

तेनैतत्सिद्धं भवति—कार्यं  
विषय एव मान्द्यमोक्तत्वकृतः  
संसारो न स्वात्मनीतिः । आत्मनि  
तु भ्रान्त्योपचर्यते ।

नन्वात्मापि परमात्मनः कार्यं  
वता युक्तस्तस्य संसार इति ।

न, असंसारिण एव प्रवेश  
भूतेः । “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रावि  
षत्” ( तै० उ० २ । ६ । १ )  
इत्याकाशादिकारणस्य असंसा  
रिण एव परमात्मनः कार्येष्वनु  
प्रवेशः भूयते । तस्मात्कार्यानु  
प्रविष्टा जीव आत्मा पर एव  
असंसारी । सृष्ट्यानुप्राविषदिति  
समानकर्तृकृत्यापपत्तेश्च । सर्ग

‘प्राण ही अन्न है और शरीर  
अन्न है’ यहाँसे लेकर अन्नसंपर्क  
कार्यकार्य ही अन्न और अन्नादत्त  
प्रतिपादन किया गया है ।

पूर्व०—कहा गया है—सो इससे  
क्या हुआ ?

सिद्धान्ती—इससे यह सिद्ध  
होता है कि मोक्ष और मोक्षके  
कारण होनेवाला संसार कार्यवृत्ति  
ही सम्बन्धित है, वह आत्मामें नहीं  
है; आत्मामें तो भ्रान्तिवृत्त उत्पन्न  
उपकार किया जाता है ।

पूर्व०—परन्तु आत्मामें भी तो  
परमात्माका कार्य है । इसलिये उसे  
संसारकी प्राप्ति होना उचित ही है ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश-  
शक्ति असंसारीका ही प्रवेश प्रति  
पादन करती है । “उसे रचकर वह  
पीछेने उसीमें प्रविष्ट हो गया” इस  
श्रुतिद्वारा व्यक्तराशिके वरुणरूप  
असंसारी परमात्माका ही कार्यमें  
अनुप्रवेश सुना गया है । अतः  
कार्यमें अनुप्रविष्ट जीवत्पर असंसारी  
परमात्मा ही है । रचकर पीछेमें  
प्रविष्ट हो गया” इस वाक्यसे एक  
ही कर्ता होना सिद्ध होता है । यदि



न उपलम्ब्यनुपलम्ब्यत्वात् ।

ससारधर्मविशिष्ट आत्मोप  
लम्ब्यत इति चेत् ।

न, धर्माणां धर्मिणोऽभ्यति  
रेकस्त्वस्त्वानुपपत्तेः, उच्यते-  
काष्ठयोर्वाद्यप्रकाश्यत्वानुपपत्ति  
वत् । आसादिदर्शनानुदुःखिस्त्वा-  
द्यनुमीयत इति चेत् ? न; आसा-  
देर्दुःखस्य घोपलम्ब्यमानत्वाभो-  
पलम्ब्यधर्मत्वम् ।

अपि लक्षणादादितर्कशास्त्र  
विरोध इति चेत् ?

न, तेषां मूलाभावे वेद  
विरोधे च भ्रान्तस्योपपत्तेः ।  
धृत्युपपत्तिभ्यां च सिद्धमात्म  
नोऽप्रसंगारित्वमेकत्वाच्च ।

सिद्धान्ती—महाँ, क्योंकि जो  
( जीव ) सबका ज्ञान है वह वेद  
महाँ या सकता ।

पूर्व०—सांसारिक धर्मोंसे कुछ  
आत्म तो उपलम्ब्य होता ही है !

सिद्धान्ती—ऐसी बात महाँ है,  
क्योंकि धर्म अपने धर्मोंसे अभिन्न  
होते हैं अतः वे उसके कर्म महाँ  
हो सकते, जिस प्रकार कि [ सूर्यके  
धर्म ] उष्ण और प्रकाशका दाहक  
और प्रकाशका सम्भव महाँ है ।  
यदि कहो कि मय आदि देखनेसे  
आत्माके दुःख आदिका अनुमान  
होता ही है तो ऐसा कहना भी  
ठीक महाँ, क्योंकि मय आदि दुःख  
उपलम्ब्य होनेवाले होनेके कारण  
उपलम्ब्य करनेवाले [ आत्मा ] के  
धर्म महाँ हो सकते ।

पूर्व०—परन्तु ऐसा माननेसे तो  
कर्मिक और कणाद आदिके तर्क-  
शास्त्रसे विरोध आता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक  
महाँ; क्योंकि उनका कोई आधार  
न होनेसे और वेदसे विरोध होनेसे  
भास्तिम्य होना उचित ही है । धृति  
और मुक्तिसे आत्माका असंस्मरित्व  
सिद्ध होता है तथा एक होनेके  
कारण भी ऐसा ही व्यक्त पड़ता है ।

कथमेकत्वमित्युच्यते—स यथायं  
 पुरुष यथासावादित्य स  
 एक इत्यत्रमादि पूर्ववत्  
 सर्वम् ॥ ४ ॥

उसका एकत्व कैसे है ? सो सबका  
 सब पूर्ववत् यह जो कि इस  
 पुरुषमें है और जो यह आदित्यमें  
 है एक ही इस वाक्यद्वारा  
 बतलाया गया है ॥ ४ ॥

आदित्य और देहोपाधिक चेतनकी एकता जाननेवाले  
 उपासकको मिलनेवाला फल

स य एवधित् । अस्माद्धोकात्प्रेत्य । एतमन्नमय  
 मात्मानमुपसंक्रम्य । एत प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।  
 एत मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एत विज्ञानमयमात्मान  
 मुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँ  
 छोफान्कामान्नी कामरूप्यनुसचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते  
 हा ३ पु हा ३ पु हा ३ पु ॥ ५ ॥

यह जो इस प्रकार जाननवाला है इस वाक्य ( इस और अष्ट  
 विध-नाम ) में निश्चय होकर इन अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण कर,  
 इस प्राणमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्माके प्रति  
 संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्माके प्रति संक्रमण कर तथा इस  
 आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर इन छोफोंमें कामकी ( इष्टा-  
 मुक्तर भाग मोल्य हुआ ) और कामकी हाकर ( इष्टामुक्तर रूप  
 भाग कर ) विचरता हुआ यह सादर्य्य करता है—हा ३ पु  
 हा ३ पु हा ३ पु ॥ ५ ॥

अक्षमयादिक्रमेणानन्दमयमा  
त्मानमुपसक्तम्यैतत्साम गाय-  
न्नास्ते ।

सत्यं ज्ञानमित्यस्या ऋषोऽर्थो  
षोऽन्तुते व्याख्यातो विस्त-  
र्यन्नास्ते रेभ तद्विवरणसूत-  
मीयन्ते यानन्दवल्लभा ।

“सोऽन्तुते सर्वान्क्रमान्सह  
ब्रह्मणा विपश्चिता” ( तै० उ०  
२।१।१ ) इति तस्य फलवचन-  
स्यार्थवित्तारो नोक्तः । के ते  
किंविपश्चिता वा सर्वे क्रमाः कथ  
वा ब्रह्मणा सह समन्तुत इत्येत-  
द्रक्तम्यमितीदमिदानीमारम्भते-

तत्र पितापुत्राख्यायिकायां  
पूर्वविद्याश्लेषमूलायां तपो ब्रह्म  
विद्यासाधनमुक्तम् । प्राणादेरा  
काशान्तस्व च कार्यस्यान्नान्ना  
दत्वेन विनियोगश्लोकाः, ब्रह्म  
विपयोपासनानि च । ये च सर्वे

अन्नमय आदिके क्रमसे आनन्द  
मय आत्माके प्रति सक्रमण कर वह  
यह सामग्रान करता रहता है ।

‘सत्यं ज्ञानममर्तं ब्रह्म’ इस  
ऋचाके अर्थकी, इसकी विवरणमूला  
ब्रह्मानन्दबन्धिकाे द्वारा विस्तारपूर्वक  
व्याख्या कर दी गयी थी । किन्तु  
उसके फलकर निरूपण करनेवासे  
“वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे एक साथ  
सम्पूर्ण भोगोके प्राप्त कर लेता है”  
इस वचनके अर्थकर विस्तारपूर्वक  
वर्णन नहीं किया गया था । वे  
भोग क्या हैं ! उनकर किम  
विषयोसे सम्बन्ध है ! और किस  
प्रकार वह उन्हें ब्रह्मरूपसे एक  
साथ ही प्राप्त कर लेता है !—यह  
सब बतलाना है, अतः अब इसीकर  
विचार आरम्भ किया जाता है—

तहाँ पूर्वोक्त विद्याकी श्लेषमूत  
पितापुत्रसम्बन्धिनी व्याख्यायिकामें  
तप ब्रह्मविद्याकी प्राक्षिप्त साधन  
वतकमया गया है; तथा आकाशापर्यन्त  
प्राणादि करपरगन्त अन्न और  
अन्नादरूपसे विनियोग एवं ब्रह्म-  
सम्बन्धिनी उपासनाश्लोकर प्रतिपादन  
किया गया है । इसी प्रकार  
आकाशादि कर्यभेदसे सम्बन्धित

कामाः प्रतिनियतानेकसाधन-

साध्या आन्काशादिकार्यमेद-

विपया एते दर्शिताः । एकत्वे

पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः ।

मेदबाधस्य सर्षस्यात्ममूढत्वात् ।

तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण

सर्षान्कामानेषंवित्समश्नुत इत्यु-

च्यते—सर्षात्मत्वोपपत्तेः ।

कथं सर्षात्मत्वोपपत्तिरित्याह—

पुरुषादित्यस्यात्मैकत्वमिच्छानेना-

पोक्षोत्कर्षापकर्षाभिन्नमयाद्यात्मनो

ऽविद्याकल्पितान्क्रमेण संक्रम्या

मन्दमया तान्सत्यं ज्ञानमनन्तं

मसादृश्याद्विधर्मकं स्यामात्रिक

एव प्रत्येकके लिये नियत अनेक  
साधनोंसे सिद्ध होनेवाले जो सम्पूर्ण  
भोग हैं वे भी दिखा दिये गये हैं ।  
परन्तु यदि आत्माका एकत्व स्वीकार  
किया जाय तब तो काम और  
काम्पित्वका होना ही असम्भव होना;  
क्योंकि सम्पूर्ण मेदबाध आत्मस्वरूप  
ही है । ऐसी अवस्थामें इस प्रकार  
आजनेवाला उपासक ब्रह्मरूपसे  
किस प्रकार एक ही साथ सम्पूर्ण  
भोगोंको प्राप्त कर लेता है ? सो  
बतलान्या जाता है—उसका सर्षात्म-  
भाव सम्भव होनेके कारण ऐसा हो  
सकता है ।\*

उसका सर्षात्मत्व किस प्रकार  
सम्भव है ? सो बतलाते हैं—पुरुष  
और आवृत्तिमें स्थित आत्माके  
एकत्वज्ञानसे उनके तत्पर्य और  
अपकर्षका निराकरण कर आत्माके  
वैज्ञानसे वस्तुना किये हुए अज्ञानमयसे  
मेकर आनन्दमयपर्यन्त सम्पूर्ण  
कोशोंके प्रति सक्रमण कर जो सबका  
फलस्वरूप है उस अवस्थादि धर्म-  
वाले सामाजिक आनन्दस्वरूप

• एतत्पर्यं वह है कि जो ब्रह्मही अभेदोपासना करते-करते अन्ते  
एतन्मय अनुभव करने लगता है वह तबका अन्तर्भाव ही ही अन्त है। इतलिये  
तबके अन्तर्भावस्वरूपसे वा

मानन्दमत्रमसृतमभयमद्वैतं फल

भूतमापन्न इमाँल्लोक्कन्धूरदीनि

नुसंशरभिति व्यबहितन संबन्धः।

कथमनुसंशरन् ? कामाभी

कामतोऽकमस्येति कामाभी ।

तथा कामतो रूपाम्यस्येति

कामरूपी । अनुसंशरन्सर्वात्मने

माँल्लोक्कनारमत्थेनानुभवन्—

किम् ? एतत्साम गायत्रास्त ।

समत्वाद्भवैव साम सर्वा-

प्रकृतिः साम- नन्यरूपं गायत्र्य-

व्यनामिप्रत्यः इदंभारमैकत्व प्र-

स्यापयँल्लोक्कनुग्रहार्थं तद्विद्यन्-

फलं चातीव कृतार्थत्व गायत्रा

स्तं तिष्ठति । कथम् ? हा ३ पु ।

हा ३ पु । हा ३ पु । अहो इत्यतसिम्-

बन्मा, अपूर्व, अमय, अद्वैत एव

सत्य, ज्ञान और अमृत प्राप्तको

प्राप्त हो इन मू. आदि लोकमें

सञ्चार करता हुआ—इस प्रकार इन

व्यवधानयुक्त पदोंसे इस वाक्यका

सम्बन्ध है—किस प्रकार सञ्चार

करता हुआ ? कामाभी—जिसको

इच्छासे ही अन्न प्राप्त हो जाय उसे

कामाभी कहते हैं तथा जिसे इच्छासे

ही [ हा ] रूपोंकी प्राप्ति हो

जाय ऐसा कामरूपी होकर सञ्चार

करता हुआ अर्थात् सर्वात्मनसे

इन लोकोंको जाने कारणरूपसे

अनुभव करता हुआ—क्या करता है ?

इस सामका गान करता रहता है ।

समरूप होनेके कारण यह ही

साम है । उस सबसे अभिन्नरूप

सामका गान—उच्चारण करता हुआ

अर्थात् लोकपर अनुभव करनेके लिये

कारणाकी एकताको प्रकट करता

हुआ और उसकी उपासनाके फल

रूपसे इत्तार्किकता गान करता

हुआ स्थित रहता है । किस प्रकार

गान करता है—हा ३ पु । हा

३ पु । हा ३ पु । ये तीन शब्द

'अहो' । इस अर्थमें अत्यन्त विलम्ब

ब्रह्मनेताद्वारा गाथा जानेवाला साम

कः पुनरसौ विस्मय ? | किन्तु यह विस्मय क्या है ? सो  
इत्युच्यते— | मतलाया माता है—

अहमक्षमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो ऽऽहमन्नादो ऽऽहमन्नाद  
। अहश्श्लोककृद्दहश्श्लोककृद्दहश्श्लोककृत् ।  
अहमस्मि प्रथमजा ऋता ऽस्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ऽ  
मायि । यो मा ददाति स इदेव मा ऽ वा । अहमन्नमन्नम-  
दन्तमा ऽ षि । अह विश्व सुवनमभ्यभवा ऽम् । सुवर्न ज्योतीः  
य एव वेद । इत्युपनिषत् ॥ ६ ॥

मैं ब्रह्म (मोग्य) हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ; मैं ही ब्रह्माद  
(मोला) हूँ मैं ही ब्रह्माद हूँ मैं ही ब्रह्माद हूँ, मैं ही श्लोककृत्  
(ब्रह्म और ब्रह्मादके संवातक्य कर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही  
श्लोककृत् हूँ । मैं ही इस सत्यासत्यरूप अज्ञात्के पहले उत्पन्न हुआ  
[ द्विरप्यगर्भ ] हूँ । मैं ही देवताओंसे पूर्ववर्ती विराट् एवं अपूर्वत्वक्य  
केन्द्रस्वरूप हूँ । जो [ ब्रह्मस्वरूप ] मुझे [ ब्रह्मार्पिण्योक्ते ] देता है यह  
इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु [ जो मुझ ब्रह्मस्वरूपको दान न  
करता हुआ स्वयं मोग्यता है उस ] ब्रह्म मद्यज करनेवालेको मैं ब्रह्मरूपसे  
मद्यज करता हूँ । मैं इस सम्पूर्ण सुवनक्य परामण्य करता हूँ, हमारी  
ज्योति सूर्यके समान मित्य प्रकाशस्वरूप है । ऐसी यह उपनिषद् [ ब्रह्म-  
विद्या ] है । जो इसे इस प्रकार जानता है [ उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त  
होता है ] ॥ ६ ॥

अद्वैत आत्मा निरञ्जनोऽपि | निर्मल अद्वैत आत्मा होनेपर भी  
समहमेवाक्षमभादय । किं चाह | मैं ही ब्रह्म और ब्रह्माद हूँ तथा मैं  
मेव श्लोककृत् । श्लोकको नामा | मैं ही श्लोककृत् हूँ । श्लोकक ब्रह्म और  
ब्रह्मादयाः संवातन्तस्य कर्ता | ब्रह्मादके संवातको कहते हैं उसका



थेतनावान् अन्नस्यैव वा परा  
र्थस्यान्नादार्यस्य सतोऽनेकारम-  
कस्य पारार्थ्येन हेतुना मघात  
कृत् । त्रिरुक्तिर्विज्ञापत्वस्याप  
नार्था ।

अहमस्मि भवामि । प्रथमजाः  
प्रथमजः प्रथमोत्पन्न ऋतस्य  
सस्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य अगतः ।  
दवेभ्यश्च पूर्वम् । अमृतस्य नाभि  
रमृतत्वस्य नाभिर्मध्य मत्संस्म-  
ममृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः ।

यः कृद्विन्मा मामन्नमन्नार्धि  
म्यो ददाति प्रयच्छत्यन्नात्मना  
ब्रवीति स इदित्यमेवमभिनर्त्त  
यथामृतमावा अवतीत्यर्थः । यः  
पुनरन्यो मामदन्नार्धिम्यः क्खले  
प्राप्तेऽन्नमधि समन्नमदन्तं भक्ष-  
यन्तं पुरुषमहमन्नमेव संप्रत्यधि  
भक्षयामि ।

अत्राहैवं तर्हि विमेमि सर्वा  
स्मत्त्वप्राप्तेर्मोक्षवस्तु संसार एव

थेतनावान् कर्ता हूँ । अथवा परार्थ  
यानी अन्नादके लिये होनेवाले अन्न  
का जो पारार्थ्यत्व हेतुके कारण ही  
बनेका नाम है, मैं संघात करनेवाला  
हूँ । मूर्तमें जो तीन बार कहा गया है  
वह विस्मय प्रकट करनेके लिये है ।

मैं इस ऋत—सत्य यानी मूर्त-  
मूर्तरूप अगतक 'प्रथमजा'—प्रथम  
उत्पन्न होनेवाला ( हिरण्यगर्भ ) हूँ ।  
मैं देवताओंसे पहले होनेवाला और  
अमृतक नामि यानी अमरत्वक  
मध्य ( केन्द्रस्थान ) हूँ; अर्थात्  
प्राणियोंका अमृतत्व मेरेमें स्थित है ।

जो कोई अन्नरूप मुझे अन्नार्धियों-  
को दान करता है अर्थात् अन्नरूप-  
भावसे मेरा भजन करता है वह  
इस प्रकार अभिनन्द और यथार्थ  
अन्नरूप मेरी रक्षा करता है ।  
किन्तु जो समय उपस्थित होनेपर  
अन्नार्धियोंको मेरा दान न कर  
सक्य ही अन्न भक्षण करता है उस  
अन्न भक्षण करनेवाले पुरुषको मैं  
अन्न ही खा जाता हूँ ।

इसपर कोई ब्राह्मी कहता है—  
यदि ऐसी बात है तब तो मैं  
सर्वत्रान्नप्राप्तिके मोक्षसे डरता हूँ,  
इससे तो मुझे संसारहीन्ये प्राप्ति

यतो मुक्तोऽप्यहमभूत् आद्यः  
स्यामन्नस्य ।

एष मा मैपीः संव्यवहार  
विपयत्वात्सर्वकामाशनस्य । अती-  
त्यार्यं संव्यवहारविपयमन्नाभा-  
दादिलक्षणमभिधाकृतं विद्यया  
ब्रह्मत्वमापन्नो विद्वांस्तस्य नैव  
द्वितीयं वस्तुन्तरमस्ति यतो  
विमेस्पतो न मेतव्यं मोघात् ।

एवं तर्हि किमिदमाह—अह  
मभमहमभाद इति ? उच्यते—यो-  
ऽप्यमन्नादादिलक्षण संव्यव  
हार कार्यभूतः स संव्यवहार  
मात्रमव न परमार्थवस्तु । स  
एवं भूतोऽपि ब्रह्मनिमित्ता ब्रह्म  
प्यतिरक्णासन्निति कृत्वा ब्रह्म  
निष्कार्यस्य ब्रह्मभावस्य स्तुत्य  
र्धमुच्यते । अहमभमहमभमह  
मभम् । अहमन्नादोऽहमन्नादो  
ऽहमन्नाद इत्यादि । अतो भया-

हो [ यही लक्ष्य है ] ; क्योंकि  
मुक्त होनेपर मैं भी लक्ष्यभूत होकर  
लक्ष्यका मत्त्व होऊँगा ।

सिद्धान्ती—एसे मत बरो, क्योंकि  
सब प्रकारके भोगोंको भोगना यह  
तो व्यावहारिक ही है । विद्वान् तो  
ब्रह्मनिष्ठाके द्वारा इस लक्ष्यवास्तव  
लक्ष्य-जन्यरूप व्यावहारिक विषय  
का उल्लङ्घन कर ब्रह्मत्वको प्राप्त हो  
जाता है । उसके लिये कोई दूसरी  
वस्तु ही नहीं रहती, जिससे कि  
उसे भय हो । इसलिये तुसे मोक्षसे  
नहीं डरना चाहिये ।

यदि ऐसी बात है तो 'मैं लक्ष्य  
हूँ, मैं लक्ष्या हूँ' ऐसा क्यों कहा  
है—ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता  
है—यह जो लक्ष्य और लक्ष्यादिकल्प  
कार्यभूत व्यवहार है वह व्यवहार  
मात्र ही है—परमापवस्तु नहीं है ।  
यह ऐसा होनेपर भी ब्रह्मका कार्य  
दानेके कारण ब्रह्मसं पृथक् लक्ष्य  
ही है—इस व्याख्यानके लेकर ही  
ब्रह्मनिष्ठाके कार्यभूत ब्रह्मत्वकी  
स्तुतिक लिये 'मैं लक्ष्य हूँ, मैं लक्ष्य  
हूँ, मैं लक्ष्य हूँ, मैं लक्ष्या हूँ' ऐसा  
कहा जाता है । इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठा  
काश ही जानेके कारण ब्रह्मत्व

द्विदोषग षोऽप्यविद्यानिमिषो  
ऽविषोच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीति ।

अहं निश्च समस्तं भुवनमूर्तै  
संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्मजन्तीति  
वास्मि भूतानीति भुवनमभ्यमवा-  
मभिमवामि परेणेश्वरेण स्वरू-  
पेण । सुवर्नं ज्योतीः सुवरा  
द्विष्यो नक्षर उपमार्थे । आदित्य  
इव सङ्घादिमात्तमस्मदीयं ज्योती  
ज्योतिः प्रकाश इत्यर्थः ।

इति वल्लीद्वयविहितोपनिष  
स्वरमात्मज्ञानं तामेतां यथोक्ता-  
मुपनिषद् घान्तो दान्त उपरत-  
स्तिविद्युः समाहितो भूत्वा मृगु-  
वचपो महादास्याय य एवं  
वेद तस्येदं फलं यथोक्तमोक्ष  
इति ॥ ६ ॥

विश्वान्को अविद्याके करण होनेवाले  
मय वादि दोषका गत्व मी नहीं  
होता ।

मैं अपने श्रेष्ठ ईश्वररूपसे विश्व  
पानी सम्पूर्ण भुवनका परमव  
( उपसंहार ) करता हूँ । जो  
ब्रह्मादि मूर्तों ( प्राणियों ) के द्वारा  
संभजनीय ( भोग जाने योग्य ) है  
जबवा जिसमें मृत ( प्राणी ) होते हैं  
ससका नाम भुवन है । सुवर्न  
ज्योती '—सुव' वादित्यका नाम  
है और 'न' उपमाके किये है, जर्पाद  
हमारी ज्योति—हमारा प्रकाश  
वादित्यके समान प्रकाशमान है ।

इस प्रकार इन दो बलियोंमें कही  
हुई उपनिषत् परमस्माका ज्ञान है ।  
इस उपर्युक्त उपनिषत्को जो मृगु-  
के समान घान्त, दान्त, उपरत,  
स्तिविद्यु और समाहित होकर महान्  
तपस्या करके इस प्रकार जानता है  
उसे यह उपर्युक्त मोक्षरूप फल  
प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इति मृगुवस्त्यां ब्रह्मोऽनुवाकः ॥ १० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिजाबकाचार्यगोविन्दमगधत्पूज्यपादक्षिप्यश्रीमच्छंकर  
मगधत इतो तैत्तिरीयोपनिषद्ग्रन्थे मृगुवल्ली समाप्ता ॥

समाप्तैर्यं कृष्णपत्रुषैरीया तैत्तिरीयोपनिषद् ॥

ॐ

## शान्तिपाठ

ॐ श नो मित्रः श वरुण । श नो भवत्वयमा ।  
श न इन्द्रो वृहस्पति । श नो विष्णुस्तुक्त्रम ।  
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्मावादिपम् । ऋतमवादिपम् ।  
सत्यमवादिपम् । तन्मामावीत् । तद्वक्त्रमावीत् ।  
आवीन्माम् । आवीद्वक्त्रम् ॥

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

---

॥ हरि ॐ कस्य ॥

मीहरीः

## मन्त्राणा वर्णानुक्रमणिका

| मन्त्रप्रतीकानि              | वहती | अनु | मं | पृ  |
|------------------------------|------|-----|----|-----|
| अथाध्यासमम्                  | १    | ३   | ४  | १७  |
| अन्तेनास्युत्तरकाम्          | १    | ३   | ३  | २७  |
| अन्नं न निन्धात्             | ३    | ७   | १  | २१३ |
| अन्नं न परिचर्यते            | ३    | ८   | १  | २१८ |
| अन्नं बहु कुर्वति            | ३    | ९   | १  | २१९ |
| अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्    | ३    | २   | १  | २१८ |
| अन्नाद्वा प्राणोः प्रसक्तो   | २    | २   | १  | १२४ |
| अन्तर्वा इहमग्र आसीत्        | २    | ७   | १  | १७३ |
| असन्नेष त मवति               | २    | ३   | १  | १५  |
| अहं ब्रह्मस्य शेरिवा         | १    | १   | १  | ३५  |
| अहमन्मन्मन्मन्               | ३    | १   | ३  | १४५ |
| अन्नं नो ब्रह्मेति व्यजानात् | ३    | ३   | १  | २१३ |
| अथ त्वाध्यासमवकने च          | १    | ९   | १  | ३१  |
| ओमिति ब्रह्म                 | १    | ८   | १  | ५७  |
| ॐ हं सो मित्रः               | १    | १   | १  | २१  |
| कुर्वाणाधीरस्रगमन'           | १    | ४   | २  | १३  |
| तत्रम इत्युपासीत             | ३    | १   | ४  | २३० |
| देवसितुःकार्यान्वाम्         | १    | ११  | २  | ७   |
| न कञ्चन वक्तु                | ३    | १   | १  | २३० |
| नो इत्यथि                    | १    | ११  | ३  | ७   |
| पृथिव्यन्तरिक्षम्            | १    | ७   | १  | ५४  |
| प्राणं देवा अनु प्राणन्ति    | २    | ३   | १  | ११० |
| प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्   | ३    | ३   | १  | २२० |
| ब्रह्मविद्यामेति परम्        | २    | १   | १  | ९७  |
| मीषाश्चाहृतः पशवै            | २    | ८   | १  | १८३ |
| सूर्युवा मुवति               | १    | ५   | १  | ४१  |

|                              |   |    |   |     |
|------------------------------|---|----|---|-----|
| सुगुर्वै वाचसि-              | ३ | १  | १ | २१४ |
| मनो ब्रह्मेति व्यजानात्      | ३ | ४  | १ | २२१ |
| मह इति ब्रह्म                | १ | ५  | ३ | ४२  |
| मह इत्यादिभ्य-               | १ | ५  | २ | ४१  |
| य एष वेद                     | ३ | १  | २ | २३० |
| यतो वाचो निवर्तन्ते          | २ | ९  | १ | २८  |
| वतो वाचो निवर्तन्ते          | २ | ४  | १ | १३८ |
| यथा इति पशुपु                | ३ | १  | ३ | २३० |
| युधो क्रौञ्चानि स्वाहा       | १ | ४  | ३ | ३८  |
| वृद्धन्वृद्धमृपमो विश्वस्मा- | १ | ४  | १ | ३३  |
| वे तत्र ब्राह्मणा उर्मर्दिनः | १ | ११ | ४ | ७०  |
| वासुः उभानम्                 | १ | ३  | २ | २७  |
| विद्वानं ब्रह्मेति व्यजानात् | ३ | ५  | १ | २२२ |
| विद्वान वतं तनुवै            | २ | ५  | १ | १४१ |
| वेदमनूष्याचार्यो             | १ | ११ | १ | ७०  |
| ध नो मित्रः                  | १ | १२ | १ | ९३  |
| धीष्ठां व्याघ्रस्यमः         | १ | २  | १ | २५  |
| भोविद्वस्य वाचमहत्स्य        | २ | ८  | ३ | १८९ |
|                              | २ | ८  | ४ | १८३ |
| स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम्     | २ | ८  | २ | १८२ |
| स व एवमित्                   | ३ | १  | ५ | २४१ |
| स य एपोऽन्वृद्धवे            | १ | ३  | १ | ४८  |
| स नष्टायं पुरुषे             | २ | ८  | ५ | १९१ |
| सह नो वधाः                   | १ | ३  | १ | २७  |
| सुवदित्वादिस्ये              | १ | ३  | २ | ४८  |





